# श्री गोरक्षपीठ : योग और शिक्षा

# श्री गोरक्षपीठ : योग और शिक्षा

सम्पादक
डॉ. प्रदीप कुमार राव
डॉ. अविनाश प्रताप सिंह

प्रकाशक
महाराणा प्रताप पी.जी. कॉलेज
जंगल धूसड़, गोरखपुर

ISBN : 978-81-929457-2-9

सर्वाधिकार : सुरक्षित

संस्करण : प्रथम, 2017

प्रकाशक :
**महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज**
जंगल धूसड़, गोरखपुर (उत्तर प्रदेश)

मुद्रक :
मोती पेपर कनवर्टर्स, बेतियाहाता, गोरखपुर

---

Shri Gorakshpeeth : Yoga Aur Shiksha
Editor : Pradeep Kumar Rao

# विषयानुक्रम


| | | | |
|---|---|---|---|
| | सम्पादकीय | | |
| | उद्घाटन भाषण | महन्त योगी आदित्यनाथ | |
| १. | भारत की ज्ञान परम्परा | डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल | १ |
| २. | शिक्षा : आदर्श एवं उद्देश्य | डॉ. सरोज कुमार वर्मा | १३ |
| ३. | आदर्श शिक्षक | प्रो. नरेश प्रसाद भोक्ता | २६ |
| ४. | आदर्श शिक्षण संस्थान | प्रो. सदानन्द प्रसाद गुप्त | ३४ |
| ५. | हम और हमारी संस्था | डॉ. राजशरण शाही | ४० |
| ६. | कार्य और कार्य पद्धति | डॉ. प्रदीप कुमार राव | ५६ |
| ७. | शिक्षा के आयाम | डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय | ७३ |
| ८. | योग और शिक्षा | प्रो. रामअचल सिंह | ८० |
| ९. | योगः समग्र स्वास्थ्य का विज्ञान | प्रो. द्वारका नाथ | ८१ |
| १०. | गोरखदर्शन का भौगोलिक विश्लेषण | प्रो. वीरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव | १०२ |
| ११. | योगदर्शन का व्यक्तित्व विकास . . . | डॉ. शिप्रा सिंह | ११० |
| १२. | अन्तर्राष्ट्रीय योगदिवस पर . . . | महन्त योगी शिवनाथ | ११९ |
| १३. | नादयोग | डॉ. जयन्तनाथ | १२२ |
| १४. | अजपाजप | डॉ. राजशेखर यादव | १२४ |
| १५. | योग का मनोविज्ञान | डॉ. दीनानाथ | १२५ |
| १६. | योग का मनोविज्ञान | डॉ. सुशील कुमार पाण्डेय | १२६ |
| १७. | Yoga-Education Therapy-Chemistry | Dr. Y.P. Kohali | १३२ |

महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति सभागार में अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस पर योगाभ्यास करते योगाभ्यासी।

साप्ताहिक योग शिविर एवं शैक्षिक कार्यशाला में शिक्षा : आदर्श एवं उद्देश्य विषय पर व्याख्यान देते डॉ. सरोज कुमार वर्मा एवं अध्यक्ष प्रो. यू.पी. सिंह।

साप्ताहिक योग शिविर एवं शैक्षिक कार्यशाला में
आदर्श शिक्षक विषय पर व्याख्यान देते प्रो. एन.पी. भोक्ता।

# सम्पादकीय

श्री गोरक्षपीठ एक सिद्धपीठ है। यह योगपीठ है। शिवावतारी महायोगी गुरु श्री गोरक्षनाथ की तपस्थली पर उनकी सिद्धि और साधना को अखण्डता प्रदान करती यह पीठ नाथपंथ की सर्वोच्च पीठ है। महायोगी गुरु श्री गोरक्षनाथ के प्रतिनिधि गोरक्षपीठाधीश्वर द्वारा नाथपंथ की परम्परा को निरन्तरता प्रदान करने वाली इस पीठ का अपना विशिष्ट महत्त्व है। सामाजिक-धार्मिक-राजनीतिक इतिहास में यह पीठ अपने सामाजिक-धार्मिक पुनर्जागरण के लिए तो दर्ज है ही, भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन मे नाथपंथी योगियों एवं योगेश्वरों की विशिष्ट भूमिका तथा सन्यासी आन्दोलन में सहभागिता के कारण भी इस पीठ की भूमिका को नजर अन्दाज कर भारत के स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास पूर्ण नही हो सकता। श्री गोरक्षपीठ भारत की सनातन संस्कृति के उन धर्मकेन्द्रों-आध्यात्मिक केन्द्रों-गुरुकुलों का आज भी प्रतिनिधित्व करता है जो भारत के सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन की धुरी तथा मार्गदर्शक होते थे। यह पीठ प्राचीन भारतीय धर्मपीठों का आधुनिक संस्करण है। श्री गोरक्षपीठ आज धर्म एवं योग केन्द्र के साथ-साथ सामाजिक जन-जागरण का केन्द्र है। राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रबल पक्षधर है। गो-सेवा का केन्द्र है। जन-सेवा का केन्द्र है। शिक्षा और चिकित्सा का केन्द्र है।

महायोगी गुरु श्री गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित क्रियात्मक योग को जन-जन तक पहुँचाने का अभियान इस पीठ के प्रमुख उद्देश्यों में एक है। महायोगी गुरु गोरक्षनाथ योग संस्थान द्वारा प्रतिदिन निःशुल्क योग प्रशिक्षण एवं मासिक पत्रिका योगवाणी का प्रकाशन योग के व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक पक्षों को आम-जन तक पहुँचाने के अहर्निश प्रयत्न हैं। योग के प्रचार-प्रसार हेतु प्रतिवर्ष साप्ताहिक योग-शिविर का आयोजन श्री गोरक्षपीठ की परम्परा का हिस्सा है। यह साप्ताहिक योग शिविर महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज की साप्ताहिक पुण्यतिथि समारोह के साथ प्रतिवर्ष भाद्र शुक्ल द्वादशी से आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तक सम्पन्न होता था। भारत के यशस्वी प्रधानमंत्री माननीय श्री नरेन्द्र मोदी जी के प्रयत्न से जब योग को पुनः वैश्विक प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी और 21 जून 'अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस' घोषित हो गया तब से वर्तमान परम-पूज्य गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज के निर्देश पर साप्ताहिक योग शिविर को अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के अवसर पर 15 जून से 21 जून तक सम्पन्न किया जाने लगा।

शिक्षा एवं स्वास्थ्य को सेवा का माध्यम बनाकर 1932 ईस्वी से शिक्षा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में श्री गोरक्षपीठ सक्रिय है। इस पीठ के प्रकल्प समाज के सामने प्रतिमान के रुप में खड़े हैं। महानगर से लेकर जंगल के अत्यन्त दुरुह उन क्षेत्रों तक जहाँ अभी हाल के वर्षों तक सरकारें नहीं पहुँची थी, श्री गोरक्षपीठ ने शिक्षा और स्वास्थ्य की मशाल जलायी। इस क्षेत्र में श्री गोरक्षपीठ के प्रयत्न अद्वितीय एवं अविस्मरणीय हैं।

परम पूज्य महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज मौलिक चिन्तक, शोधकर्ता एवं नित-नयी परम्पराओं को गढ़ने में रूचि रखते हैं। पूज्य महन्त जी महाराज ने इस योग-शिविर के साथ एक नयी परम्परा प्रारम्भ की। उन्होंने महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के शिक्षकों को योग-शिविर में प्रशिक्षित होने तथा अपने तन-मन को स्वस्थ रखने की प्रेरणा दी। महन्त जी महाराज की प्रेरणा एवं उनके निर्देशानुसार शिक्षकों को महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के उद्देश्य, संस्था के विकास, वैश्विक ज्ञान-विज्ञान से अद्यतन रखने की दृष्टि से अकादमिक विषयों पर केन्द्रित शैक्षिक कार्यशाला साप्ताहिक योगशिविर का हिस्सा बन गया। अब श्री गोरक्षपीठ द्वारा 2015 ई. से ही प्रतिवर्ष 15 जून से 21 जून तक साप्ताहिक योग-अध्यात्म एवं शैक्षिक कार्यशाला सम्पन्न हो रही है।

2017 ई. में सम्पन्न साप्ताहिक योग शिविर एवं शैक्षिक कार्यशाला का उद्घाटन 15 जून को परमपूज्य गोरक्षपीठाधीश्वर एवं उत्तर प्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज की अध्यक्षता में श्री गोरखनाथ मन्दिर परिसर में स्थित महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति सभागार में सम्पन्न हुआ। उद्घाटन समारोह मे मुख्य अतिथि कटक (उड़ीसा) के प्रतिष्ठित योगपीठ के महन्त शिवनाथ जी का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। उद्घाटन समारोह में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के वरिष्ठ उपाध्यक्ष पूर्व कुलपति प्रो. यू.पी. सिंह, प्रतिष्ठित अधिवक्ता श्री धर्मेन्द्रनाथ वर्मा, राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद के पूर्व कुलपति तथा उच्चतर शिक्षा सेवा चयन आयोग के पूर्व अध्यक्ष प्रो. राम अचल सिंह, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. विजयकृष्ण सिंह, मदन मोहन मालवीय प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय गोरखपुर के कुलपति प्रो. श्रीनिवास सिंह, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के शिक्षाशास्त्र विभाग के प्रो. एन. पी. भोक्ता, प्रतिष्ठित साहित्यकार प्रो. सदानन्द प्रसाद गुप्त, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के डॉ. सन्तोष शुक्ल की गरिमामयी उपस्थिति थी।

21 जून को साप्ताहिक योग-शिविर का समारोप महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति सभागार में तथा साथ-साथ सम्पूर्ण मन्दिर-परिसर में लगभग पाँच हजार योग-अभ्यासियों के योगाभ्यास के साथ सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात् पूर्व कुलपति प्रो. यू. पी. सिंह की अध्यक्षता में शैक्षिक कार्यशाला का समारोप किया गया। समारोप कार्यक्रम में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री सूर्यप्रकाश केसरवानी का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। मुख्य वक्ता पूर्व कुलपति प्रो. राम अचल सिंह का समारोप भाषण हुआ। विशिष्ट अतिथि भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद नई दिल्ली के पूर्व सदस्य सचिव डॉ. मानेन्द्र प्रताप सिंह तथा मानव संसाधन विकास मंत्रालय के राजभाषा सलाहकार डॉ. योगेन्द्र प्रताप सिंह थे।

साप्ताहिक योगशिविर में महन्त शिवनाथ, प्रो. द्वारका नाथ, प्रो. डी.एन. यादव, श्री हरिनारायण दूबे, डॉ. दीनानाथ राय, डॉ. जयन्तनाथ, डॉ. राजशेखर यादव का शोधपूर्ण एवं मौलिक व्याख्यान हुआ। शैक्षिक कार्यशाला में डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल, प्रो. एस.के. वर्मा, प्रो. एन.पी. भोक्ता, प्रो. सदानन्द प्रसाद गुप्त, डॉ. राजशरण शाही ने मौलिक एवं शोधपूर्ण व्याख्यान दिया। कार्यशाला के प्रतिभागियों की मांग पर इन सभी व्याख्यानों को प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। मुझे भी ऐसा लगता है कि यह प्रकाशन योग एवं शिक्षा के पुजारियों के लिए थोड़ा-बहुत उपयोगी होगा। इस प्रकाशन के कुछ व्याख्यान विशुद्ध अनुभवजन्य हैं जो सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने में सहयोगी होने चाहिए। हमारी योजना थी कि इस रचना का विमोचन युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज एवं राष्ट्रसन्त ब्रह्मलीन महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज की साप्ताहिक पुण्यतिथि के पावन अवसर पर हो। सभी वक्ताओं के व्याख्यान प्रकाशन हेतु मुझे जुलाई माह तक मिल भी गए थे। किन्तु मेरे कार्य टालने की खराब आदत के कारण पुस्तक के प्रकाशन में विलम्ब हुआ। इस विलम्ब हेतु मैं अपने सभी सहयोगियों से क्षमाप्रार्थी हूँ। सभी का हार्दिक आभारी हूँ कि उन्होंने अपने अथक परिश्रम से साप्ताहिक योग शिविर एवं शैक्षिक कार्यशाला को न केवल सफल बनाया अपितु लेखबद्ध व्याख्यान देकर इस आयोजन को अन्यों के लिए भी उपयोगी बनाकर श्री गोरक्षपीठ के लोककल्याणकारी अभियान में अपना अमूल्य सहयोग दिया। परम पूज्य गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज की प्रेरणा एवं उनके आशीर्वाद से यह कृति आप सभी के हाथों में प्रस्तुत है। सादर।

10 दिसम्बर, 2017

**( प्रदीप कुमार राव )**

श्री गोरक्षपीठ, गोरखनाथ मन्दिर में अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के अन्तर्गत आयोजित साप्ताहिक योग शिविर एवं शैक्षिक कार्यशाला का उद्घाटन समारोह। ऊपर मंचासीन अतिथि, उद्घाटन भाषण करते उत्तर प्रदेश के यशस्वी मुख्यमंत्री परम पूज्य गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज एवं नीचे उपस्थित गणमान्य नागरिक।

# उद्घाटन भाषण

भारतीय सभ्यता-संस्कृति के अभ्युदय से अद्यावधि भारतीय आध्यात्मिक साधना में योग एवं उसका महत्त्व सर्वस्वीकार्य है। भारतीय मूल की सभी निगम-आगम, वैदिक-अवैदिक साधना-परम्पराओं में न्यूनाधिक रूप में अथवा किसी-न-किसी रूप में योग की स्वीकृति और देशना मिलती है, तथापि एक सम्पूर्ण विद्या के रुप में योग-साधना की दो समानान्तर धाराएँ पतंजलि द्वारा प्रवर्तित पातंजलि योग दर्शन एवं महायोगी गोरखनाथ द्वारा प्रतिष्ठापित नाथ योग/क्रियात्मक योग हैं। दोनों योग पद्धतियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रवर्तित योग दर्शन जहाँ इसका सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत करता है, वहीं महायोगी गुरु गोरखनाथ द्वारा अपनी साधना पद्धति द्वारा इसका व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। वे कहीं भी एक-दूसरे का खण्डन या प्रत्याख्यान नहीं करतीं। वस्तुत: जब पातंजलि योग ऋषियों-मुनियों-तपस्वियों के आश्रमों तक सीमित हो गया, सामान्य जन के लिए दुरूह होने लगा था, ऐसे में महायोगी गोरखनाथ ने योगियों सहित जन-सामान्य के द्वार तक योग को पहुँचाया। शिवावतारी गुरु श्री गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योग-साधना आदिनाथ भगवान् शिव द्वारा विवेचित योग-तत्त्व है। महायोगी गुरु श्री गोरखनाथ भारत सहित दुनिया में सर्वस्वीकार्य प्रचलित योग-साधना के एक प्रमुख प्रवर्तक आचार्य हैं।

योग भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशिष्टता है। यह शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन की ऐसी पद्धति है, जिसके द्वारा मन एवं शरीर पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। योग-साधना के बल पर व्यक्ति न केवल अपनी मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं पर नियंत्रण स्थापित कर सकता है अपितु इन्द्रियेतर ज्ञान की उपलब्धि तथा प्रकृति के क्रिया-कलापों पर आध्यात्मिक

*अन्तर्राष्ट्रीय योगदिवस पर श्री गोरक्षपीठ, गोरखनाथ मन्दिर में आयोजित सप्तदिवसीय योग शिविर एवं शैक्षिक कार्यशाला के उद्घाटन समारोह में परम पूज्य गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज का उद्घाटन भाषण।

अंकुश लगा सकता है। योगिराज बाबा गम्भीरनाथ जी का मानना था कि योग-साधना का अन्तिम लक्ष्य प्रकृति मात्र पर नियंत्रण करना नहीं है, अपितु योग अथवा योगी का अन्तिम लक्ष्य प्रकृति के क्षेत्र का अतिक्रमण करते हुए सीमातीत, दुःखातीत, बन्धनातीत, अहंकारशून्य, आत्मप्रकाशित आत्मतत्त्व की अनुभूति कराना अथवा करना है।

योग भारतीय सनातन धर्म-दर्शन एवं ज्ञान-परम्परा की अमूल्य निधि है। इसका मूलरूप वैदिक संहिताओं मे सूत्रबद्ध मिलता है। वेदों में योग का प्रतिपादन करने वाले अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं। वैदिक ग्रन्थों की ही भाँति उपनिषद्, दर्शन, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों मे भी योग के यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होते हैं। योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, योगचूड़ामश्युपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद्, महोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद् इत्यादि प्रमुख योग- उपनिषदें हैं। केवल योग से ही विशेष सम्बन्ध रखने वाले बीस उपनिषदों का संग्रह 'योग-उपनिपद् संग्रह' नाम से प्रकाशित है।

समस्त भारतीय धर्म-दर्शन एवं उपासना पद्धतियों में योग का महत्त्व सर्वमान्य है। भारतीय संस्कृति की कोई भी पान्थिक धारा ऐसी नहीं है, जिसने 'योग' को मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण न माना हो। योग-दर्शन एवं योगसम्मत जीवन पद्धति महायोगी गोरखनाथ के पूर्व भी भारत में विद्यमान थी, तथापि महायोगी गोरखनाथ ने 'योग' को युग-सम्मत बनाकर एक सशक्त एवं जीवन्त मत के रूप में प्रतिष्ठित किया। गुरुश्री गोरखनाथ ने जिस योग-मार्ग का प्रवर्तन किया, उसे नाथ योग कहते हैं।

भारतीय धर्म-साधना में योग-मार्ग के उन्नायक महायोगी गोरखनाथ का व्यक्तित्व अप्रतिम है। वे युग-प्रवाह को मोड़ने वाले, परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने वाले, परम्परागत विचार-प्रवाह को मथकर उसके भीतर से सार्वयुगीन तत्त्व को प्रकट करने वाले साधक और विचारक थे। महायोगी गोरखनाथ द्वारा तत्कालीन सामाजिक-धार्मिक जीवन में 'नाथपन्थ' का प्रवर्तन एक नयी क्रान्ति का उद्घोष था। भारत के संत्रस्त सामाजिक-धार्मिक जीवन को नाथपन्थ ने नवीन प्रवाह प्रदान किया। गुरु श्री गोरखनाथ ने अपने स्पष्ट और अनावृत्त व्यवहार तथा योग-मार्ग द्वारा तत्कालीन समाज को वह दिशा प्रदान की, जिसमें सदाचार की प्रतिष्ठा के साथ ऊँच-नीच की भावना, कर्मकाण्ड और पाखण्ड का कोई स्थान नहीं था। उनका योग-मार्ग इन्द्रिय-निग्रह और सदाचार, सच्चरित्रता और जीवन की

पवित्रता का उद्घोषक था। महायोगी गुरु श्री गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योग-मार्ग आडम्बरहीन एवं व्ययसाध्य कर्मकाण्ड के विपरीत सर्वसामान्य के लिए सुलभ वह आध्यात्मिक मार्ग था जो वर्तमान जीवन को स्वस्थ, सुखी, शान्तप्रिय और सच्चरित्र बनाता था और इस मार्ग पर चलकर ईश्वर एवं मोक्ष की प्राप्ति सुनिश्चित थी।

आज जीवन की आपा-धापी के बीच सुख और शान्ति की खोज में बेचैन मानव को योग-मार्ग पर ही लक्ष्य-प्राप्ति सम्भव है। भारत के माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी की पहल एवं प्रयास से दुनिया में 'योग' ने अपनी पुनर्प्रतिष्ठा प्राप्त की है। 21 जून 2015 ई. को दुनिया भर में 'अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस' मनाया जाना तथा प्रति वर्ष इस तिथि को 'अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस' के रूप में घोषित होना यह बताता है कि 'स्वस्थ जीवन-सुखी जीवन' के लिए अधिकांश समाज योग-मार्ग का अनुसरण करने लगा है। ऐसे में जब दुनिया भारतीय योग-मार्ग पर चलने को तैयार हो रही हो, भारतीय योग-साधना के केन्द्रों की जिम्मेदारी एवं जवाबदेही बढ़ जाती है।

किसी भी राष्ट्र की पहचान उसकी संस्कृति से होती है। संस्कृति राष्ट्रीय समाज के श्रेष्ठतम् जीवन मूल्यों से निर्मित होती है। जीवन मूल्य परम्परा और प्रगति के अनवरत समन्वय से विकसित होता है। राष्ट्रीय समाज के महापुरुषों की श्रृंखला, उनके द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श, समय-समय पर रूढ़िगत हो रही व्यवस्थाओं का शुद्धिकरण परम्परा और प्रगति का समन्वय तथा उनकी दिशा निर्धारित करते हैं। इस प्रकार संस्कृति निरन्तर विकसित होती हुई एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में प्रवाहमान होती है। पीढ़ी दर पीढ़ी सांस्कृतिक प्रवाह का सर्वाधिक सुलभ माध्यम शिक्षा है। 'शिक्षा' ज्ञान-विज्ञान का मात्र साधन नहीं अपितु वह मानव को उसकी संस्कृति में संस्कारित करने का एक सशक्त माध्यम है। पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित शिक्षा, समाज और राष्ट्र की समग्र प्रगति में कभी सहायक नहीं हो सकती। वास्तविक शिक्षा वह है जो अतीत से सीखकर वर्तमान के धरातल पर श्रेष्ठतम् भविष्य का निर्माण करने वाली पीढ़ी तैयार करे।

महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की स्थापना 'शिक्षा' की इसी उपर्युक्त अवधारणा को साकार करने के उद्देश्य से युगपुरुष महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज ने की। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् का लक्ष्य साफ है- अपनी शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं से जगद्गुरु भारत के लिए समर्पित युवा गढ़ना। कार्यपद्धति तय है- श्रद्धा, समर्पण, त्यागपूर्ण-पारदर्शी जीवन पद्धति के साथ उद्देश्य प्राप्ति हेतु सतत् प्रयास।

मार्ग निर्धारित है- धर्म, अध्यात्म एवं लोक कल्याण का पथ। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाएँ अपने साधना-पथ पर अनवरत अग्रसर रहकर अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ विविध अकादमिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के आयोजन द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का समग्र विकास सुनिश्चित करें, यही हमारा धर्म है।

भारत की ज्ञान-परम्परा के विविध आयाम है। अपनी ज्ञान-परम्परा में दीक्षित होने के साथ-साथ भावी पीढ़ी को भी भारतीय ज्ञान-परम्परा मे रँगना शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं का कार्य है। यह कार्य सुयोग्य शिक्षकों के माध्यम से ही हो सकता है। शिक्षक-कर्मचारी संस्था की पहचान होते हैं, वही परिणाम देते हैं। कोई भी राष्ट्र एवं समाज तभी प्रगतिशील हो सकता है जब वह अपनी पुरानी नींव पर नए निर्माण का सपना संजोए। वह अपनी गौरवशाली परम्परा से प्रेरणा लेकर और बेहतर भविष्य बनाने के लिए वर्तमान का निर्माण करे। यह तभी सम्भव है जब राष्ट्र एवं समाज के निर्माता शिक्षक में चिन्तन-मनन की अजस्रधारा प्रवाहित होती रहे। वह नित नूतन बना रहे। ज्ञान-विज्ञान के नवीनतम ज्ञान के साथ स्वयं मौलिक शोधकर्ता हो।

अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस पर श्री गोरक्षपीठ में इसी उद्देश्य से 15 जून से 21 जून तक एक तरफ जहाँ साप्ताहिक योग-शिविर आयोजित किया जाता है वहीं महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद की शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं के शिक्षकों की साप्ताहिक कार्यशाला सम्पन्न होती है। हमे विश्वास है कि आज से प्रारम्भ यह साप्ताहिक योग शिविर एवं शैक्षिक कार्यशाला आप सभी को जीवन के नवोन्मेष का मार्ग प्रशस्त करेगी। मेरी आयोजन हेतु हार्दिक शुभकामनायें।

**योगी आदित्यनाथ**
गोरक्षपीठाधीश्वर, श्री गोरखनाथ मन्दिर
मुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश

# भारत की ज्ञान परम्परा

**डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल***

हमारी संस्कृति एवं सभ्यता का आधार ज्ञान है। इसलिए इस देश में ज्ञान को सबसे महत्त्वपूर्ण माना गया है– 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' भारत में ऋषि ऋण की संकल्पना ज्ञान की उपासना की अवधारणा है। इस देश में निष्कारण छः अंगों सहित वेद का अध्ययन करना चाहिए, ऐसा उपदेश दिया गया– 'निष्कारणेन षडङ्गों वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' ज्ञानविहीन मनुष्य की तुलना पशु से की गयी है– 'विद्याविहीनः पशुः।' इस देश की परम्परा ने दो प्रकार के ज्ञान की चर्चा की है– नित्य एवं अनित्य अथवा परा एवं अपरा। परा विद्या में आत्मविद्या एवं अपरा विद्या में समस्त भौतिक विद्याओं का समावेश हो जाता है। इन दोनों विद्याओं के अध्ययन के लिए प्रेरित किया गया है– 'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैव अपरा च।' आज संसार की समूची प्रतिभा केवल एक ही कार्य में लगी हुई है। वह कार्य है भौतिक संसार को पूर्ण विकास तक ले जाना। इसके लिए हम संसार की छोटी से छोटी बातों की जानकारी संगृहीत कर रहे हैं। जिस प्रकार हमारा बाह्य जगत् है, भौतिक संसार है उसी प्रकार हमारा आन्तरिक जगत् है, अभौतिक संसार है। जिस प्रकार हम भौतिक विकास की श्रृंखलाओं का अध्ययन कर रहे हैं उसी प्रकार हमें अभौतिक अर्थात् आन्तरिक जगत् का भी अध्ययन करना आवश्यक है। भारत में दोनों प्रकार की विद्याओं के अध्ययन की परम्परा है।

भारत की ज्ञान परम्परा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भारत को अपने ज्ञान का सात्विक अहंकार था। अध्ययन एवं आचरण हमारी पहचान थी। भारत की ज्ञान परम्परा ने सर्वाधिक आश्चर्यजनक भाषा को जन्म दिया था। सर्वाधिक स्पष्ट पौराणिकता का प्रतिपादन किया था। संसार के सर्वोत्तम दार्शनिक सिद्धान्तों को यहाँ की ज्ञान परम्परा ने खोजा था। भारत ने ही सर्वाधिक स्पष्ट धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं

*संस्कृत विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

कर्मकाण्डीय आदि विधियों का प्रथमतया निर्माण किया था। वेद, उपवेद, वेदाङ्ग, पुराण, रामायण, महाभारत, दर्शन एवं स्मृति आदि की परम्परा ने अनेक शास्त्रों को जन्म दिया था, जो हमारी ज्ञान परम्परा के एक-एक स्तम्भ हैं। मानव का बौद्धिक इतिहास भारत के बौद्धिक इतिहास के बिना नहीं लिखा जा सकता है। चाहे वह भाषाविज्ञान या समाजविज्ञान हो, विज्ञान हो या दर्शन, कानून हो या कला, पुराण हो या धर्मशास्त्र, साहित्य हो या संगीत, गणित हो या तर्क, कर्मकाण्ड हो या अध्यात्म, शरीर विज्ञान हो या कृषि विज्ञान, भूगोल हो या खगोल, राजशास्त्र हो या अर्थशास्त्र, युद्धविद्या हो या अस्त्र-शस्त्र विद्या, जीवन विज्ञान हो या मृत्यु विज्ञान। ज्ञान परम्परा का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं था जिस पर भारत की लेखनी न उठी हो। इसीलिए कहा गया- **'यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।'**

याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय में भारतीय ज्ञान परम्परा की गणना के प्रसंग में १४ विद्याओं का उल्लेख करते हुए लिखा गया है-

**पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।**
**वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥**

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त, व्याकरण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद ये चौदह विद्याएँ हैं। इनके साथ आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं स्थापत्यवेद नामक उपवेद को जोड़ने से १८ विद्या स्थान बन जाते हैं। अष्टादश विद्याओं के भेद एवं उपभेद से भारत की बौद्धिक परम्परा का आयाम बहुत व्यापक हो जाता है। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति इन चार विद्याओं की चर्चा आचार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र में करते हैं। इसके द्वारा कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि विद्याओं को समाहित कर विद्या परम्परा की संख्या में अभिवृद्धि करते हैं।

वेद हमारी ज्ञान परम्परा के मूल ग्रन्थ हैं। वेद समस्त विद्यओं का मूल स्रोत माना गया है। वेद संसार का प्राचीनतम साहित्य है। 'वेद' शब्द स्वयं ज्ञान का वाचक है। प्रत्येक भारतीय को वेद पढ़ने के लिए प्रेरित करने वाला वाक्य है- **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।'** अपनी वेदशाखा का अध्ययन करना चाहिए। वेद पढ़कर ही हम अपने को ऋषि-सन्तान कहने के अधिकारी बनते हैं। हमारा वैदिक साहित्य सर्वाधिक विशाल एवं ऐतिहासिक है। यह उतना विशाल एवं ऐतिहासिक है जितना किसी अन्य देश एवं जाति का नहीं है। इस साहित्य के सहारे हम दुनिया के बौद्धिक ज्ञान परम्परा के पूर्वापर कीशृंखला की उन कड़ियों को आसानी से जोड़ पाते हैं जिन्हें हम आज तक नहीं समझ सके हैं। जो लोग भी मानव जाति के विचारों के ऐतिहासिक विकास में रुचि रखते हैं, जो लोग धार्मिक या पौराणिक

आख्यानों के मूल के ज्ञान के प्रति अनुराग रखते हैं, जो लोग नक्षत्रविज्ञान की आधारशिला का अध्ययन करना चाहते हैं, जो लोग संगीत, व्याकरण, शब्दरचना विज्ञान इत्यादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, जो लोग प्रथम दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि को स्पष्ट रूप से जानना चाहते हैं, जो लोग इस पृथ्वी पर पारिवारिक जीवन सर्वप्रथम किस रूप में रहा, इसे जानना चाहते हैं तो उन्हें वैदिक साहित्य को अवश्य ही पढ़ना पड़ेगा।

वेद, मंत्र एवं ब्राह्मण साहित्य में विभक्त हैं। मंत्र संहिताएँ अनेक हैं। ब्राह्मण के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ एवं उपनिषद् समाविष्ट हैं। ब्राह्मण साहित्य भी अत्यन्त व्यापक है। भारतीय ज्ञान परम्परा के लिए वैदिक वाङ्मय इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे विद्वानों ने सस्वर कण्ठस्थ कर लिया। सहस्राब्दियों से लेकर आज तक भी वेद मौखिक परम्परा में सुरक्षित हैं। मंत्रों को कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखने की दृष्टि से अनेक प्रकार के प्रकृति एवं विकृत पाठों की व्यवस्था की गयी जिससे कि मंत्रों को यथावत सुरक्षित रखा जा सके।

**जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।**
**अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥**

संहितापाठ, पदपाठ एवं क्रमपाठ ये प्रकृति पाठ माने जाते हैं। जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ एवं घन पाठ विकृति पाठ माने जाते हैं। मंत्रों के समूह का नाम संहिता है। यज्ञ के अनुष्ठान को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए इन मंत्र-संहिताओं का संकलन किया गया है। इस संकलन का कार्य स्वयं वेदव्यास ने किया-'**वेदं तावदेकं सन्तम् अतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः। सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः।**' (निरुक्तवृत्ति)। ऋग्वेद संहिता की समस्त शाखाएँ २१ हैं जिनमें ५ शाखाएँ मुख्य हैं- शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकायन। यजुर्वेद की संहिताओं में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है। वाजसनेयी संहिता एवं काण्व संहिता सहित शुक्ल यजुर्वेद की १५ संहिताएँ हैं। कृष्ण यजुर्वेद की ८५ शाखाएँ हैं, जिनमें ४ मुख्य हैं- तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ एवं कपिष्ठलकठ शाखा। वैदिक संहिताओं में साम का महत्त्व नितान्त उज्ज्वल है। कहा गया है- जो पुरुष साम को जानता है वही वेद के रहस्य को जानता है- '**सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्।**' सामवेद की १००० शाखाएँ थीं- '**सहस्रवर्त्मा सामवेदः**', ऐसा कहा जाता है। १३ शाखाओं के नाम उपलब्ध हैं जिनमें ३ शाखाएँ- कौथुमीय, राणायनीय एवं जैमिनीय उपलब्ध होती हैं। पतंजलि ने अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख किया है- '**नवधाऽऽथर्वणो वेदः।**' पिप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद,

देवदर्श, चारणवैद्य ये ९ शाखाएँ उल्लिखित हैं, जिनमें पिप्पलाद एवं शौनक संहिताएँ उपलब्ध होती हैं। ब्राह्मण साहित्य भी अत्यन्त विपुल है। चारों वेद के प्रमुख ब्राह्मण हैं- ऐतरेय ब्राह्मण, शांखायन ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, काण्वशतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ताड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, दैवत, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण एवं गोपथ ब्राह्मण। इसी प्रकार ऐतरेय उपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, ईशावास्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद् आदि प्रमुख उपनिषद् हमारे वैदिक वाङ्मय के आधार ग्रन्थ हैं।

ब्राह्मण वाङ्मय का वैदिक यज्ञ के कर्मकाण्ड की व्याख्या एवं विवरण प्रस्तुत करना मुख्य विषय है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मंत्रों, कर्मों तथा विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला महत्त्वपूर्ण वाङ्मय है। संसार के किसी भी साहित्य में ब्राह्मण सदृश वाङ्मय का सर्वथा अभाव है। यज्ञ विधान का इतना साङ्गोपाङ्ग परिचय, यज्ञ का सृष्टि वैज्ञानिक विवेचन, आधिभौतिक एवं आधिदैविक विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। वैश्विक सभ्यता एवं संस्कृति में कर्मकाण्ड का इतिहास ब्राह्मण ग्रन्थों के बिना अधूरा ही माना जायेगा। आरण्यक साहित्य एवं उपनिषद् साहित्य ब्राह्मण के ही भाग माने जाते हैं। आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञों की आध्यात्मिक मीमांसा की गयी है। दार्शनिक विवेचन, प्राणविद्या का प्रतिपादन ही आरण्यक का मुख्य विषय है। आरण्यक में प्रतिपादित प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास मिलता है। प्राण के विभिन्न स्वरूपों को आरण्यक ग्रन्थों में विस्तार से स्पष्ट किया गया है। भारतीय तत्त्व ज्ञान तथा सिद्धान्तों के मूल स्रोत के रूप में उपनिषद् का स्थान है। ये वस्तुतः भारतीय आध्यात्मिकता के सरोवर हैं। आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ये उपनिषद् हमारी ज्ञान परम्परा के दार्शनिक सिद्धान्तों के मूल स्रोत के रूप में जाने जाते हैं।

हमारी ज्ञान परम्परा में वेद के यथावत् संरक्षण एवं अर्थज्ञान के निमित्त वेदाङ्ग साहित्य का निर्माण हुआ। छः वेदाङ्ग हमारी छः ज्ञान परम्पराओं के मूल हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये एक-एव विद्यास्थान के वाचक हैं। शिक्षा उच्चारण शास्त्र है, ध्वनिविज्ञान है। यह भाषाशास्त्र का प्रमुख विषय है। शिक्षा के छः अंग हैं- वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान। प्रत्येक वर्णों के उच्चारण पार्थक्य के कारण विभिन्न शिक्षा ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। शिक्षा ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि हमारे ऋषियों ने उच्चारण प्रकार का कितना वैज्ञानिक अध्ययन किया था। आज भी पाश्चात्य जगत् में इस विद्या का ध्वनिविज्ञान (Phonology) के रूप में अध्ययन हो रहा है। उच्चारण

विषय का इतना विविध एवं गम्भीर अनुशीलन एवं विवेचन उनकी उच्चारण सम्बन्धी गवेषणा के द्योतक हैं। वैदिक उच्चारण की परम्परा इतनी विशुद्ध है कि वैदिक संहिताओं का उच्चारण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार प्राचीन काल में होता था। आज भी भारत के किसी भी प्रान्त का वेदाध्यायी अन्यत्र उस शाखा के अध्येता के साथ समान स्वर में उन मंत्रों का उच्चारण करता है। व्याकरण वेदाङ्ग शब्द साधुत्व एवं अनुशासन का शास्त्र है। वररुचि ने व्याकरण के पाँच प्रयोजन रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह बताये हैं। व्याकरण की परम्परा यहाँ अत्यन्त प्राचीन है। प्रातिशाख्यों के माध्यम से वैदिक व्याकरण के चिन्तन की परम्परा बहुत ही अनोखी है। संस्कृत में पाणिनीय व्याकरण के अतिरिक्त अन्य व्याकरणों की भी एक लम्बीशृंखला है। व्याकरण शास्त्र पर ऐसा अद्भुत चिन्तन एवं संस्कृत भाषा की वैज्ञानिकता आज भी विश्व भर में भाषावैज्ञानिकों के लिए आश्चर्य का विषय है। निरुक्त निर्वचन शास्त्र का अर्थपरीक्षण एवं अर्थनिर्धारण करना इस शास्त्र का प्रयोजन है। निघण्टु के भाष्य को निरुक्त कहते हैं। निघण्टु कठिन वैदिक शब्दों का समुच्चय है। निघण्टु-निरुक्त की एक लम्बी परम्परा थी परन्तु आजकल यास्क का ही निरुक्त उपलब्ध होता है। यास्क विश्व के प्रथम भाषावैज्ञानिक माने जाते हैं। इनका निरुक्त ग्रन्थ भाषाविज्ञान का सिद्धान्त ग्रन्थ है। इस प्रकार शिक्षा, व्याकरण एवं निरुक्त ये तीनों वेदाङ्ग भाषाशास्त्र के सभी पक्षों का व्यापक प्रतिपादन एवं विमर्श प्रस्तुत करते हैं। इस तरह की ज्ञान परम्परा अन्य संस्कृतियों में अनुपलब्ध है। आधुनिक भाषाविज्ञान का जन्म ही संस्कृत अध्ययन के कारण हुआ, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। कल्पशास्त्र विधि ग्रन्थ है। गृह्य सूत्र धार्मिक, सांस्कृतिक विधियों के, धर्मसूत्र सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं विधिक विधियों के, शुल्ब एवं श्रौत सूत्र कर्मकाण्डीय, वैज्ञानिक एवं सृष्टि विधियों के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। कर्मकाण्ड का वैश्विक इतिहास, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विधियों का इतिहास कल्पशास्त्र के बिना नहीं लिखा जा सकता है। छन्द:शास्त्र काव्यशास्त्र का प्रमुख स्रोत है। वैदिक छन्दों से ही लौकिक छन्दों का उद्भव हुआ। संस्कृत के कवियों ने श्रुति माधुर्य तथा संगीतमय आरोह-अवरोह को ध्यान में रखकर इन्हीं छन्दों में अक्षरों के गौरव तथा लाघव को नियमबद्ध कर दिया है। इसी शास्त्र से संगीत शास्त्र की उत्पत्ति हुई। पिंगल का छन्द:सूत्र उभय छन्दों की एक अनुपम कृति है। ज्योतिष खगोलीय ज्योति पिण्डों का प्रतिपादक शास्त्र है। दुनिया को गणित सिखाने वाला यह शास्त्र है। कालगणना का वैज्ञानिक चिन्तन यही प्रस्तुत करता है। ग्रहों के स्वरूप-विचार को इसी ने सबसे पहले प्रस्तुत किया था।

हमारी ज्ञान परम्परा के छः वेदाङ्ग अनेक शास्त्रों के उद्गम स्थल हैं।

मानवीय चिन्तन के इतिहास में इन शास्त्रों को शामिल न करना अपनी अज्ञानता का ही प्रदर्शन होगा। वेद एवं वेदाङ्ग हमारी सम्पूर्ण ज्ञान परम्परा के मूल स्रोत एवं प्रमाण के रूप में माने जाते हैं।

मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए, शरीर की स्वास्थ्य रक्षा के लिए, व्याधिग्रस्त शरीर के रोगों के निवारण के लिए महर्षियों ने अपनी प्रतिभा, अनुभव तथा प्रयोगों के बल पर जिस शास्त्र का प्रतिपादन किया उसका नाम आयुर्वेद है।

**हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।**
**मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।**

चरक के इस कथन में आयुर्वेद का प्रयोजन समाहित है। प्रत्येक शास्त्र के दो अंग होते हैं- सिद्धान्त तथा प्रयोग। सुश्रुत का कथन यह है कि उभयज्ञ ही समाज के लिए मंगल साधक होता है। इसीलिए यह बात आयुर्वेद के प्रयोजन में स्पष्ट होती है। व्याधि से युक्त व्यक्ति का व्याधिपरिमोक्ष (व्याधिउपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः) पहला प्रयोजन है। दूसरा प्रयोजन है- स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा (स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्)। मनुष्य समाज की उत्पत्ति के साथ ही रोग भी उत्पन्न हुए। उसी के साथ उसकी औषधि और चिकित्सा भी आरम्भ हुई। भारत में आयुर्वेद की परम्परा वैदिककालीन है। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में आयुर्वेदीय तत्त्वों का संकेत है परन्तु अथर्ववेद में विस्तार से आयुर्वेदीय चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है। यह उपवेद माना जाता है। आयुर्वेद में आठ महत्त्वपूर्ण विभाग माने गये हैं- शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायनतंत्र तथा बाजीकरण। इन आयुर्वेदीय आठ अङ्गों पर विपुल साहित्य उपलब्ध होता है। चिकित्सा के क्षेत्र में भारतीय ज्ञान परम्परा का यह शास्त्र शरीर के समग्र चिकित्सा पद्धति का आविष्कारक है। वृक्षआयुर्वेद, पशुचिकित्सा, वनस्पति विज्ञान, रसायन शास्त्र आदि का सम्बन्ध साक्षात् इसी शास्त्र के साथ है। औषधि विज्ञान, औषधि निर्माण का विस्तार से वर्णन इसी ज्ञान परम्परा का क्षेत्र है।

ज्ञान परम्परा में गणितशास्त्र को मणि के रूप में माना गया है। जिस प्रकार मयूरों की शिखा तथा सर्पों की मणि होती है उसी प्रकार शास्त्रों में गणित सबके मस्तक पर रहने वाला है। विद्याओं में गणित विद्या का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। छान्दोग्योपनिषद् में राशि विद्या के रूप में अंकगणित का उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा में 'गणितानुयोग' और 'संख्यान' को महत्त्वपूर्ण माना है। अर्थशास्त्र के अनुसार शिक्षा का आरम्भ चूड़ाकरण संस्कार के अनन्तर लिपि तथा संख्यान से होना चाहिए- **'लिपिसंख्यानं चोपयुञ्जीत'**। हाथीगुम्फा के एक शिलालेख से पता चलता है कि कलिंग देश के राजा खारवेल ने लेखा रूप (रेखागणित) तथा

गणना सीखने के लिए अपने जीवन के ९ वर्ष व्यतीत किये थे। गणित विद्या का महत्त्व खगोल विषयक नाना तथ्यों के अध्ययन में स्पप्ट है। विश्व संस्था के उत्पादक तीन लोक हैं- पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्यौः (आकाश)। भारत में प्राचीन काल से पृथ्वी माता तथा द्यौः पितर के रूप में मान्यता रखते हैं। यूनान एवं रोम की संस्कृति में भी 'जूस पिटर' एवं 'जूपिटर' के रूप में यह मान्य है। सकल प्राणियों की क्रीड़ास्थली यह पृथ्वी है। द्यौः सूर्य का निवास है। इन दोनों का परिचायक समान नाम 'रोदसी', 'क्रन्दसी' और 'द्यावा पृथिवी' है। यह वैदिक साहित्य में बहुधा निर्दिष्ट है। दोनों के बीच के लोक को 'अन्तरिक्ष' कहते हैं- **'अन्तरि मध्ये क्षीयते इति अन्तरिक्षम्।'** यही त्रिलोक की कल्पना है। सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा, ऋतु, अयन, मास, नक्षत्र आदि विषयों के सटीक वर्णन तथा खगोलीय तथ्यों के उद्घाटन गणितीय ज्ञान के बिना सम्भव नहीं था। भारत में गणित शास्त्र की नींव अत्यन्त गहरी और प्राचीन है। भारतीय गणित में प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन स्थानांग सूत्र के इस निर्देश से अच्छी तरह जान सकते हैं-

**परिकम्म ववहारो रज्जु रासी कलासवन्ने य।**
**जावान्तावति वग्गो भनो ततह वग्गवग्गो विकल्पो न॥**

परिकर्म, व्यवहार, रज्जु, राशि, कलास वर्ण, यावत्-तावत्, वर्ग, घन, वर्ग-वर्ग तथा विकल्प ये १० विषय गणित शास्त्र में अन्तर्भूत हैं। गणित में सामान्यतः तीन विषयों का समावेश है- अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित। रेखागणित का सम्बन्ध यज्ञवेदियों से शुरू होता है अतः 'शुल्व सूत्र' में इससे सम्बद्ध तथ्यों का निर्देश प्राप्त होता है। शुल्व सूत्र भारतीय क्षेत्र गणित के सबसे प्राचीन तथा विशद प्रतिपादक सिद्धान्त ग्रन्थ हैं। भारत में अंकगणित के लिए दो नाम प्रसिद्ध हैं- 'पाटीगणित' तथा 'धूलिकर्म'। अरबी भाषा में इन दोनों शब्दों का अनुवाद हू-ब-हू मिलता है। पाटीगणित का अरबी पर्याय है- 'इल्म हिसाब-अलतख्त' तथा धूलिकर्म का अरबी है-'हिसाब अल गुबार'। इसी प्रकार आचार्यों ने पाटी गणित के लिए 'व्यक्त गणित' और बीजगणित के लिए 'अव्यक्त गणित' शब्द का प्रयोग किया है। पाटी गणित तथा बीजगणित दोनों का वर्णन प्रायः एक साथ ही संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है। गणित के इतिहास में भारतीयों का महत्त्वपूर्ण योगदान स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। गणित के नाना सिद्धान्तों एवं पद्धतियों का आविष्कार भारत में हुआ था जिसका प्रचार एवं प्रसार मिस्र, सीरिया, फारस, अरब, यूनान, रोम होते हुए सम्पूर्ण यूरोप में हुआ। दुनिया के अनेक विद्वानों ने स्पष्ट शब्दों में भारत के इस योगदान को स्वीकार किया है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में विज्ञान के सभी क्षेत्रों में प्रायः ग्रन्थ उपलब्ध होते

हैं। भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, कृषि, वाणिज्य, औषधिविज्ञान आदि का व्यापक विमर्श ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पुराण हमारी मौखिक ज्ञान परम्परा के विश्वकोश हैं। इसमें नाना विषयों का समावेश आचार्यों ने किया है। पुराण वाङ्मय अत्यन्त व्यापक है। पुराण हमारे इतिहास ग्रन्थ हैं। इनमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित का वर्णन आख्यान उपाख्यान, गाथा एवं कल्पशुद्धि के माध्यम से भारत ही नहीं दुनिया का सर्वविध इतिहास लिखा गया है। इतिहास को न जानने वाला व्यक्ति अपने एवं अपने समाज एवं राष्ट्र पर जो पूर्वजों का ऋण है, उसे स्वीकार नहीं कर सकता। अतः उससे ऐसी आशा करना व्यर्थ है कि वह अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए कुछ कर जायेगा। 'रामायण' एवं 'महाभारत' अपने आप में अनेक ज्ञान परम्पराओं के आविष्कारक ग्रन्थ हैं। इनके इतना विस्तार वाले गन्थ अन्य संस्कृतियों में अनुपलब्ध हैं। यदि रामायण भारतीय जीवन का आचारशास्त्र है तो महाभारत भारतीय मेधा एवं विचार तथा चिन्तन का विश्वकोश है। ऐसे महाकाव्य हमारी बौद्धिक परम्परा की अनुपम निधि हैं। रामायण, महाभारत एवं पुराण वाङ्मय ही भारतीय सभ्यता-संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान, कला-शिल्प आदि सभी विद्याओं के प्रतिपादक हैं। इनके बिना दुनिया का बौद्धिक इतिहास अधूरा है।

हमारे दार्शनिक सिद्धान्त भारतीय सभ्यता एवं धर्म के मेरुदण्ड हैं। दर्शन शब्द का अर्थ है- **'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'** - जिसके द्वारा देखा जाय। कौन पदार्थ देखा जाय? हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? इस दृश्यमान जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? इस सृष्टि का कौन कारण है? यह चेतन है या अचेतन है? इस संसार में हमारे लिये कौन से कार्य कर्तव्य हैं? जीवन के लिए कौन सा सुन्दर साधन मार्ग है? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना 'दर्शन' का प्रधान ध्येय है। भारत में दर्शनशास्त्र की जितनी लोकप्रियता है उतनी किसी अन्य देश में नहीं। यहाँ दर्शन तथा धर्म का, तत्त्वज्ञान तथा भारतीय जीवन का गहरा सम्बन्ध है। किसी भी देश का विचारशास्त्र उस देश की सभ्यता और संस्कृति का सबसे मूल्यवान पदार्थ होता है। उस देश के धार्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव विचारशास्त्र की विभिन्न धाराओं पर निश्चित रूप से पड़ता है। अतः किसी देश में उत्पन्न होने वाले विचारशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में कुछ भेद भले ही दिखलावें, परन्तु वातावरण में समानता होने के कारण इन सम्प्रदायों के मतों में अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इसी कारण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के भी अनेक सिद्धान्तों में एकता दृष्टिगोचर होती है। प्रमुख छः शास्त्रों सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा का साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। इनके अतिरिक्त १६ अन्य प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय भारत की

बौद्धिक परम्परा के विकास के उत्कृष्ट धरोहर हैं। सहस्राब्दियों से इन दार्शनिक सम्प्रदायों का भारत में अध्ययन एवं अध्यापन होता रहा है। अध्यात्म प्रधान हमारी दार्शनिक पद्धति आज भी समस्त जगत् के लिए आदर्श है। दार्शनिक चिन्तन की सूक्ष्मता एवं जीवन के साथ एकात्मकता भारत की दार्शनिक पद्धति की असली पहचान है। दार्शनिक सम्प्रदायों को स्वतंत्र रूप से यहाँ पर विकसित होने का उद्भूत इतिहास विशेष उल्लेखनीय है।

भारत की ज्ञान परम्परा में जितना महत्त्व दर्शनशास्त्र या सम्प्रदायों को दिया गया उतना ही साहित्य, संगीत एवं कला को भी दिया गया। साहित्य का वैविध्य गद्य, पद्य एवं चम्पू काव्यों में देखा जा सकता है। नाट्य साहित्य की विविधता एवं दश रूपकों की परम्परा भारत की धरोहर है। चित्रकाव्यों कोशृंखला अन्यत्र दुर्लभ है। काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदाय हमारी ज्ञान परम्परा के चिन्तन की विशालता हैं। कामशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र की परम्परा हमारी चिन्तन की उत्कृष्टता है। चित्रकला, मूर्तिकला एवं स्थापत्यकला जैसी ६४ कलाओं की परम्परा साहित्य विधा की उपविधा के रूप में परिगणित की गयी है।

भारत की ज्ञान परम्परा के इतिहास एवं उसकी व्यापकता का सर्वेक्षण अत्यन्त कठिन कार्य है। प्रत्येक ज्ञानशाखा में विपुल साहित्य का सृजन हुआ है। भारत में ग्रन्थ लेखन के प्रकार की विविधता दुनिया के लिए आज भी चुनौती है। सूत्र, भाष्य, वृत्ति, पद्धति, समीक्षा, टीका, पञ्जिका, कारिका, वार्तिक, प्रकरण आदि ग्रन्थ-प्रकार कहीं भी बौद्धिक इतिहास में प्राप्त नहीं होते हैं। भारतीय विद्या परम्परा के ग्रन्थों को पारम्परिक ढंग से सुरक्षित रखते हुए सहस्राब्दियों से इस बौद्धिक दाय को ऋषि प्रसाद के रूप में स्वीकार कर भारत को विश्वगुरु बनाने के लिए हम सभी संकल्पित हैं। विदेशी आक्रान्ताओं के क्रूर आक्रमण ने हमारी ज्ञान-सम्पदा को नष्ट-भ्रष्ट करने का, ज्ञान परम्परा की निरन्तरता को खण्डित करने का पूर्ण प्रयास किया है। हमारे मठ, मन्दिर, पाठशाला, विद्यालय एवं विश्वविद्यालय तथा पुस्तकालय नष्ट कर दिये गये फिर भी हमने अपनी मौखिक परम्परा के बल पर अपनी विद्या परम्परा को जीवित रखने का प्रयास किया है। इस दारुण काल का वर्णन महाकवि तुलसीदास ने रामकथा के माध्यम से करते हुए लिखा है-

**जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला, सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।**
**सुभ आचरन कतहुँ नहि होइ, देव विप्र गुरु मान न कोई॥**
**नहिं हरि भगति जग्य जप ज्ञाना।**
**सपनेहुँ सुनिअ न वेद पुराना।।**

**जप जोग विरागा तप मख भागा श्रवन सुनई दससीसा।**
**अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना॥**
**तेहि बहु विधि त्रासइ देस निकासइ जो कह वेद पुराना॥**
**बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर करहिं।**
**हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥**

मुगल काल में भारतीय ज्ञान परम्परा की यथार्थ स्थिति को वर्णित करने वाली ये पंक्तियाँ हमें अपने दाय को संरक्षित करने के लिए सदा प्रेरित करती रही हैं। आधुनिक भारत में भारतीय ज्ञान परम्परा के अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसन्धान के लिए सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने १७८४ में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की थी। यहीं से गीता, अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि ग्रन्थों का अंग्रेजी भाषा अनुवाद सर्वप्रथम प्रस्तुत हुआ। सर विलियम जोन्स का योगदान कथमपि विस्मृत करने योग्य नहीं है।

सन् १७९१ ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रेजीडेण्ट श्री जोनाथन डंकन ने आधुनिक भारत में भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति सद्भाव उत्पन्न करने तथा संस्कृत वाङ्मय के अभ्युदय, संरक्षण तथा विकास हेतु एक विद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस के समक्ष प्रस्तुत किया जिसे उन्होंने स्वीकृत किया। श्री जोनाथन डंकन ने अपने प्रस्ताव में इसकी स्थापना के दो लाभों की प्राप्ति के प्रति भी ध्यान आकर्षित किया था।

पहला लाभ हमें यह प्राप्त होगा कि यहाँ की हिन्दू जनता यह समझने लगेगी कि उनसे तथा उनके धर्म एवं सिद्धान्तों से जितना हम स्नेह करते हैं उतना स्नेह उन्हें अपने देशी नरेशों से नहीं प्राप्त है। अतः इससे अंग्रेज उनके प्रीतिभाजन बनेंगे। यद्यपि बनारस में सदा से व्यक्तिगत पाठशालाओं में अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था रही है किन्तु जैसी पाठशाला की स्थापना प्रस्तावित की जा रही है, वैसी पाठशाला यहाँ पहले कभी भी स्थापित नहीं हुई और इसके अभाव में हिन्दू धर्म, कानून, कला एवं विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों का संग्रह एवं उसका ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई हो रही है। इसे दूर करने के लिए ऐसी पाठशाला की स्थायी रूप से स्थापना अत्यन्त समीचीन होगी। इससे इस पाठशाला के आचार्यों तथा विद्यार्थियों द्वारा इन क्षेत्रों में विद्यमान ग्रन्थों का संग्रह एवं संशोधन स्वल्प व्यय में हो सकेगा। इस प्रकार से पुरातन महत्त्वपूर्ण विद्या तथा परम्परा से सम्बन्धित ग्रन्थों का एक ऐसा पुस्तकालय स्थापित होगा जो सम्प्रति सम्पूर्ण भूमण्डल में विद्यमान नहीं है।

दूसरा लाभ इसकी स्थापना से यह होगा कि भारतवासियों के हृदय पर होने

वाले तात्कालिक प्रभाव से ही ज्ञात हो सकेगा कि भविष्य में यहाँ शासन करने वाले अंग्रेज ही इस परिणाम से अधिक लाभान्वित होंगे। हिन्दू विधि की सुरक्षा तथा क्रमबद्धता को अक्षुण्ण रखने का कार्य इससे सम्भव हो सकेगा और हिन्दू व्यवस्था के अनुसार विवादों का सुचारु निर्णय करने में अंग्रेज न्यायाधीशों को सहायता पहुँचाने वाले योग्य व्यक्तियों का इससे निर्माण हो सकेगा।

इस प्रकार श्री जोनाथन डंकन ने भारत के प्रथम संस्कृत अध्ययन केन्द्र की स्थापना की। तत्कालीन काशीनरेश महाराज महीपनारायण सिंह एवं अंग्रेजों के बीच सन्धि के रूप में एक शर्तनामा हुआ था जिसमें यह उल्लेख था कि बनारस की अवशिष्ट अधिक आय से इस संस्कृत पाठशाला के प्रबन्ध की व्यवस्था की जाय। यह भी प्रबन्ध किया गया कि यदि प्राकृतिक कोपादि के कारण ऐसी आय न प्राप्त हो सके तो कम्पनी सरकार इसके लिए अलग से धनराशि की व्यवस्था करेगी। प्रारम्भ में इसके लिए १४,०००-२०,००० रु. तक की प्रतिवर्ष व्यवस्था की गयी। इस व्यवस्था के लिए अलग से ही एक खाता स्थापित हुआ। १८३३ ई. तक यह व्यवस्था चलती रही। इसके पश्चात् पाठशाला का खर्च शिक्षा के सामान्य खाते से चलने लगा।

श्री डंकन द्वारा प्रस्तुत उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित इस पाठशाला में चारों वेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्यवेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त, मीमांसा, न्याय, वेदान्त, सांख्य, योग एवं वैशेषिक, पुराण तथा साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की गयी। इस पाठशाला की स्थापना हिन्दू प्रजा के विवादों में अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता हेतु व्यक्ति विशेषों को तैयार करने के लिए की गयी थी। अतः इस दृष्टि से इसके प्रारम्भिक काल से ही धर्मशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसन्धान के साथ पुस्तकालय की व्यवस्था अंग्रेज रेजीडेण्ट श्री जोनाथन डंकन द्वारा की गयी।

अनेक अंग्रेज विद्वानों एवं अधिकारियों द्वारा भारतीय ज्ञान परम्परा के अध्ययन-अध्यापन की ओर प्रयास किया गया। भारतीय शिक्षा पद्धति को भारतीय रखने की कोशिश की गयी परन्तु मैकाले एवं कुछ भारतीय विद्वान राजा राममोहन राय सदृश के दुराग्रह के कारण धीरे-धीरे इस ज्ञान परम्परा को भारत की मुख्य शिक्षा पद्धति से बाहर कर दिया गया। हम पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के अनुगामी बन गये। स्वामी विवेकानन्द, एनी बेसेण्ट, स्वामी श्रद्धानन्द, श्री अरविन्द, पं. मदन मोहन मालवीय आदि के द्वारा प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्या परम्पराओं का समन्वय करते हुए भारतीय ज्ञान परम्परा के संरक्षण पर विशेष बल दिया गया। गुरुकुल कांगड़ी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद्, हिन्दू कॉलेज

जैसे अनेक संस्थानों द्वारा भारतीय विद्याओं के संरक्षण के साथ शिक्षा पद्धति में परिवर्तन का प्रयास किया गया। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् यह भारतीयों में दृढ़ भावना थी कि भारतीय विद्याओं को यहाँ की शिक्षा पद्धति में महत्त्वपूर्ण स्थान मिलेगा परन्तु दुर्भाग्य है कि यहाँ की शिक्षा पद्धति पूर्णतः विदेशी प्रारूप पर तैयार की गयी एवं भारतीय विद्याओं ग्रन्थों एवं आचार्यों के लिए उसमें थोड़ा भी स्थान नहीं दिया गया।

इस प्रकार आज भी भारतीय ज्ञान परम्परा को भारतीय शिक्षा पद्धति में यथोचित स्थान दिलाने का कार्य अधूरा है। 'भारत भारती' को पुनः प्रतिष्ठित करने का संकल्प पूर्ण करना है। शिक्षा पद्धति का आमूल परिवर्तन कर भारत की नवीन शिक्षा पद्धति बनानी है जिससे भारत पुनः ज्ञान के क्षेत्र में अपना स्थान प्राप्त कर सके।

**सन्दर्भ ग्रन्थः**

१. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, २०१०

२. पुराण रहस्य, सूरजदास स्वामी, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, १९८०

३. अद्भुत भारत, ए.एल. बाशम, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, १९८५

४. भारत गाथा, सूर्यकान्त बाली, निष्ठा, दिल्ली, १९९९

५. हम भारत से क्या सीखें? मैक्समूलर, (अनु.-कमलाकर तिवारी), आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, १९६७

६. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६७

७. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९९१

८. काव्यमीमांसा, केदारनाथ शर्मा (अनु.), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५४

९. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भगवद्दत्त, प्रणव प्रकाशन, दिल्ली, १९७७

१०. काशी की सारस्वत साधना, गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९९८

११. स्मारिका, हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २००१

# शिक्षा : आदर्श एवं उद्देश्य

**डॉ. सरोज कुमार वर्मा***

*"वास्तविक जीवनमूल्यों की खोज में व्यक्ति की सहायता करना ही शिक्षा का कार्य है और ये मूल्य पूर्वाग्रहविहीन अन्वेषण तथा आत्मावधान से ही आते हैं। जब आत्मबोध नहीं होता तो आत्माभिव्यक्ति अहंकार हो जाती है और उसके साथ उसके तमाम आक्रामक एवं महत्त्वाकांक्षी द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं। शिक्षा का कार्य आत्मावधान की क्षमता को जाग्रत करना है, न कि तुष्टीकरण वाली आत्माभिव्यक्ति की वासना को अवसर देना।"*

*–जे. कृष्णमूर्ति*

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है और यह प्रकृति के तमाम उपादानों पर लागू होता है। चूँकि मनुष्य और उसके द्वारा निर्मित समाज भी इस प्रकृति के उपादान हैं, इसलिए परिवर्तन का यह नियम इन पर भी लागू होता है। इस नियम के कारण ही अतीत में मनुष्य जहाँ था और उसके द्वारा निर्मित समाज जैसा था, वर्तमान में वहाँ और वैसा नहीं है; बल्कि उससे इतर है और वर्तमान में जहाँ और जैसा है, भविष्य में वहाँ और वैसा नहीं होगा, अपितु इससे इतर होगा। यह इतरपन आरम्भ में यद्यपि कि प्राकृतिक रूप से घटित होता था, परन्तु बाद में मनुष्य इसे अपने इच्छा, अपेक्षा, योजना और आवश्यकता के अनुसार नियोजित करने लगा। कालान्तर में इतरपन की इस सायास नियोजन की प्रक्रिया को ही शिक्षा के नाम से अभिहित किया गया और उसे मनुष्य की मुक्ति तथा बेहतरी की प्रक्रिया के रूप में स्वीकारा गया, जैसा कि कृष्णमूर्ति कहते भी हैं– "शिक्षा का सही अर्थ व्यक्ति को परिपक्व तथा मुक्त होने में, प्रेम तथा अच्छाई में अधिकाधिक पुष्पित होने में, सहायता करना है।"[१]

भारतीय परम्परा में इस शिक्षा के लिए 'विद्या' शब्द का भी प्रयोग किया गया है और उसे भी मुक्ति के साधन के रूप में ही स्वीकारा गया है। शंकराचार्य ने विद्या को परिभाषित करते हुए लिखा है– 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात्

---

*आचार्य, दर्शन विभाग, बी.आर. अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर–८४२००१ (बिहार)

जिससे मुक्ति मिले वही विद्या है। याज्ञवल्क्य के अनुसार भी शिक्षा मनुष्य को सच्चरित्र और संसार के लिए उपयोगी बनाने वाली प्रक्रिया है। बाद में विवेकानन्द ने भी शिक्षा को मनुष्य की आन्तरिक पूर्णता को अभिव्यक्त करने वाली विद्या के रूप में परिभाषित किया तो श्री अरविन्द ने उसे व्यक्ति की चेतना का परमसत्ता से योग कराने वाली पद्धति के रूप में व्याख्यायित किया। उन्होंने कहा कि जो शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान करने तक सीमित है, वह शिक्षा नहीं है। सच्ची शिक्षा वह है, जो मानव का आध्यात्मिक विकास करती है, व्यक्ति की चेतना का परम सत्ता से योग कराती है। इसी प्रकार महात्मा गाँधी के मुताबिक भी जो मुक्ति के योग्य बनाये वही विद्या है। अत: जो चित्त की शुद्धि न करे, मन और इन्द्रियों को वश में करना न सिखावे, निर्भयता तथा स्वावलम्बन उत्पन्न न करे, जीवन-निर्वाह का साधन न बनावे, दासता से मुक्ति और स्वतंत्रता से रहने का उत्साह एवं सामर्थ्य उत्पन्न न करे उस शिक्षा में चाहे जितने ज्ञान का कोष, तर्क की कुशलता और भाषा की प्रवीणता उपस्थित क्यों न हो, वह शिक्षा नहीं है।

शिक्षा के सम्बन्ध में दी गयी उपर्युक्त सभी परिभाषाओं-व्याख्याओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जो मनुष्य में एक परिवर्तन लाती है। यह परिवर्तन आन्तरिक और बाह्य दोनों स्तरों पर होता है, जिसका प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। इसीलिए समाज, शिक्षा के व्यवस्थित आयोजन के लिए सतत सक्रिय रहता है। सुबोध अदावाल और माधवेन्द्र उनियाल इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- "शिक्षा एक सुविचारित प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से गुजरने के बाद शिक्षा के पूर्व की अवस्था से व्यक्ति कुछ-न-कुछ भिन्न अवश्य हो जाता है। यदि यह दशा-वैभिन्य न हो और शिक्षा की प्रक्रिया के बाद भी व्यक्ति वैसा ही बना रहे, जैसा उससे पूर्व था, तो शिक्षा की न तो कोई प्रभावकता तथा उपयोगिता रहेगी, और न सार्थकता। ऐसी अर्थहीन प्रक्रिया की फिर कोई आवश्यकता ही न होगी। समस्त मानव समाज में शिक्षा की आयोजना व्यवस्थित ढंग से इसी कारण की जाती है कि उसके द्वारा व्यक्ति में परिवर्तन होता है, उसमें अन्तर आ जाता है।"[२]

व्यक्ति में आने वाला यह परिवर्तन अन्ततः उस समाज में आने वाले परिवर्तन का कारण बनता है, जो मनुष्यता के विकास की आधारभूमि होता है। इसीलिए तमाम विचारकों ने शिक्षा को ऐसी प्रविधि के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है, जिससे मनुष्य का संतुलित विकास होता हो और स्वस्थ समाज का निर्माण होता हो। मनुष्य के इसी संतुलित विकास और स्वस्थ समाज के निर्माण से विश्व में वह शान्ति स्थापित हो सकती है, जिसमें सब प्रेम और सहयोग के साथ सामंजस्यपूर्ण ढंग से रह सकते हैं। इसके लिए स्वामी

विवेकानन्द, महर्षि श्री अरविन्द, महात्मा गाँधी तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे विचारकों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इन लोगों ने अपने शिक्षा-दर्शन में शिक्षा-विषयक ऐसे विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनसे मनुष्यता का उत्थान होता है, समाज में सामंजस्य पैदा होता है तथा विश्व में शान्ति स्थापित होती है।

( १ )

इसके लिए स्वामी विवेकानन्द ने ऐसी शिक्षा का प्रस्ताव दिया है, जो मनुष्य के चरित्र और जीवन के निर्माण में सहयोगी हो सके। उनके अनुसार यही शिक्षा का असली उद्देश्य है। इसीलिए वे केवल बाह्य जानकारियों को शिक्षा नहीं मानते, बल्कि शिक्षा उसे मानते हैं, जिससे मनुष्य के जीवन और चरित्र का निर्माण होता है। वे कहते हैं- "शिक्षा विविध जानकारियों का ढेर नहीं है, जो तुम्हारे मस्तिष्क में ठूँस दिया गया है और जो आत्मसात् हुए बिना वहाँ आजन्म पड़ा रहकर गड़बड़ मचाया करता है। हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आवश्यकता है, जो जीवन-निर्माण, 'मनुष्य'-निर्माण तथा चरित्र-निर्माण में सहायक हों। यदि तुम केवल पाँच ही परखे हुए विचार आत्मसात् कर उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्र का निर्माण कर लेते हो, तो तुम एक पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक शिक्षित हो। यदि शिक्षा का अर्थ जानकारी ही होता, तब तो पुस्तकालय संसार में सबसे बड़े सन्त हो जाते और विश्वकोष महान ऋषि बन जाते।"[3]

विवेकानन्द के इस कथन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि वे बाहर से संगृहीत की गयी जानकारियों, सूचनाओं और संस्मरणों को शिक्षा नहीं मानते, जैसा कि आजकल माना जा रहा है। आजकल तो शिक्षा सूचनाओं का पर्यायवाची हो गयी है, ज्ञान जानकारियों का ढेर हो गया है; परन्तु विवेकानन्द ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार तो शिक्षा मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णताओं का प्रकटीकरण है। इसलिए शिक्षा बाहर से प्राप्त होने वाली कोई वस्तु नहीं है बल्कि अन्दर से प्रस्फुटित होने वाली चीज है। ऐसा मानने के कारण ही विवेकानन्द सांसारिक अथवा आध्यात्मिक सभी प्रकार के ज्ञान को मनुष्य के मन में ही निहित मानते हैं। वह ज्ञान उसके भीतर छिपा रहता है और जैसे-जैसे उस पर पड़ा हुआ पर्दा हटता जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होती जाती है; और जिस दिन वह पर्दा पूरी तरह हट जाता है, वह सर्वज्ञानी हो जाता है। विवेकानन्द इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। ज्ञान मनुष्य में स्वभाव-सिद्ध है; कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता - सब अन्दर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, यथार्थ में मानसशास्त्र-संगत

भाषा में, हमें कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार' करता है, 'अनावृत्त' या 'प्रकट' करता है। मनुष्य जो कुछ 'सीखता' है, वह वास्तव में 'आविष्कार' करना ही है। आविष्कार का अर्थ है– मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना।...

अतः समस्त ज्ञान, चाहे वह लौकिक हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्य के मन में है। बहुधा वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है। और जब आवरण धीरे–धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हम सीख रहे हैं।' ज्यों–ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों–त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस पर यह आवरण तह–पर–तह पड़ा हुआ है, वह अज्ञानी है। जिस पर से यह आवरण पूरा हट जाता है, वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है।"[४]

इस तरह यह साफ हो जाता है कि विवेकानन्द अपने शिक्षा–दर्शन में आत्म–ज्ञान को प्राप्त करने तथा अपने अन्दर की पूर्णता को प्रकट करने को केन्द्रीय स्थान देते हैं। लेकिन ऐसा करने के बावजूद वे उद्योग–धन्धों को विकसित करने वाली वैज्ञानिक तथा यांत्रिक शिक्षा को अस्वीकृत नहीं करते। वे इसकी महत्ता को भी स्वीकार करते हैं। इसलिए यह कहते हैं कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसी अर्थोपार्जन वाली शिक्षा की भी आवश्यकता है; परन्तु यह शिक्षा का मूल उद्देश्य नहीं है। शिक्षा का मूल उद्देश्य तो उनके अनुसार मनुष्य का निर्माण करना ही है। इसीलिए वे पूरा बल देकर यह कहते हैं– "हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिए, जिससे चरित्र बने, मानसिक वीर्य बढ़े, बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके। हमें आवश्यकता इस बात की है कि हम विदेशी अधिकार से स्वतंत्र रहकर अपने निजी ज्ञान–भण्डार की विभिन्न शाखाओं का और उसके साथ ही अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन करें। हमें यांत्रिक और ऐसी सभी शिक्षाओं की आवश्यकता है, जिनसे उद्योग–धन्धों की वृद्धि और विकास हो, जिससे मनुष्य नौकरी के लिए मारा–मारा फिरने के बदले अपने आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त कमाई कर सके और आपत्काल के लिए संचय भी कर सके।

सभी प्रकार की शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य 'मनुष्य'–निर्माण ही हो। सारे प्रशिक्षणों का अन्तिम ध्येय मनुष्य का विकास करना ही है। जिस अभ्यास से मनुष्य की इच्छा शक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसी का नाम है शिक्षा। ....हम 'मनुष्य' बनाने वाला धर्म ही चाहते हैं। हम मनुष्य बनाने वाला सिद्धान्त ही चाहते हैं। हम सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में 'मनुष्य' बनाने वाली शिक्षा ही चाहते हैं।"[५]

( २ )

ऐसी ही शिक्षा की वकालत महर्षि श्री अरविन्द भी करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार भी शिक्षा वास्तविक अर्थ में आत्म-शिक्षा ही है। यह एक ऐसी प्रयोजनमयी प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपने अन्तरंग प्रकृति और उसकी प्रेरणाओं के लक्ष्यों को प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया के द्वारा उसका आध्यात्मिक रूपान्तरण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह एक आध्यात्मिक जीवन जीने में समर्थ होता है। इस प्रकार श्री अरविन्द की शिक्षा का मूल उद्देश्य आन्तरिक आत्म-विकास है। इस आत्म-विकास के द्वारा व्यक्ति सभी भूतों में स्थित शाश्वत आत्मा को प्राप्त कर सकता है तथा अपने अन्दर मानसिक चेतना से एक ऐसी उच्चतर, आध्यात्मिक एवं अति मानसिक चेतना को विकसित कर सकता है, जिससे कि मानव प्रकृति रूपान्तरित होकर दिव्य बन सके। इसके लिए श्री अरविन्द बच्चों में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है, उसके प्रकट करने की बात करते हैं। वे कहते हैं- "बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति में जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अन्तरंग और प्राणवन्त है, उसको व्यक्त करना चाहिए। मनुष्य की क्रिया और विकास जिस साँचे में ढलने चाहिए, वह उसके अन्तरंग गुण और शक्ति का ढाँचा है। उसे नयी वस्तुएँ अवश्य प्राप्त होनी चाहिए; परन्तु वह उनमें सर्वोत्तम रूप से और सबसे अधिक प्राणमय रूप में स्वयं अपने विकास, प्रकार और अन्तरंग शक्ति के आधार पर प्राप्त करेगा।"[६]

इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा का अर्थ बच्चों के मन में बाहर से विभिन्न प्रकार की सूचनाओं और कई तरह की जानकारियों को डाल देना नहीं है, बल्कि उसके मानस् और उसकी आत्मा का विकास करना है। इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा उसे एक सतत प्रगतिशील आत्मा के रूप में विकसित होने में उसकी सहायता करे तथा उसे ज्ञान एवं चरित्र का प्रयोग करने के लिए प्रेरित करे। इसके साथ-साथ शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को एक ऐसा बेहतर नागरिक बनाना है जो समाज के अन्य लोगों के साथ सौहार्द्रपूर्ण ढंग से रह सके। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य द्विविध है- एक व्यक्ति का आत्म-विकास करना और दूसरा उसमें समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने की योग्यता विकसित करना। डॉ. सुनीति मुखर्जी श्री अरविन्द की शिक्षा के इस द्विविध उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखती हैं- "शिक्षा का उद्देश्य द्विविध है- एक उसका सामूहिक पक्ष तथा दूसरा उसका वैयक्तिक पक्ष। सामूहिक पक्ष की दृष्टि से शिक्षा से यह आशा की जाती है कि वह व्यक्ति को सुनागरिक में परिवर्तित करे अर्थात् एक ऐसे व्यक्ति में, जो कि समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ अनुरूप सम्बन्ध जोड़ सके, साथ ही जो मानव समाज के लिए

उपयोगी हो तथा जो अपने कर्तव्यों को एक अच्छे नागरिक के रूप में उत्साह के साथ पूर्ण करे।

दूसरी ओर शिक्षा से यह भी आशा की जाती है कि शिक्षा व्यक्ति के शक्तिशाली और स्वस्थ शरीर बनाने में सहायक होगी तथा व्यक्ति को उसके चरित्र निर्माण में सहायता प्रदान करेगी। उसे उसकी प्राकृतिक योग्यताओं के अनुरूप विकसित करने तथा उसके अनुसरण के लिए सुअवसर प्रदान करेगी।

यह स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त दोनों उद्देश्य ही परम आवश्यक हैं। हमें इन दोनों उद्देश्यों को इस रूप में ढालना चाहिए ताकि दोनों एक दूसरे का विरोध न करते हुए साथ-साथ अग्रसर हों। इस लक्ष्य तक हम तभी पहुँच सकते हैं जबकि हम व्यक्ति और समाज के मध्य के सम्बन्ध को उचित प्रकार से समझ सकें। वास्तव में समाज और व्यक्ति साथ-साथ अग्रसर होते हैं एवं एक दूसरे की उन्नति में सहायक होते हैं न कि बाधक। श्री अरविन्द ने ही यह दिखाया है कि कैसे यह समन्वय सम्भव है।"[७]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री अरविन्द के शिक्षा-विषयक विचार का क्षेत्र व्यापक है, जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का रूपान्तरण और समन्वय समाहित है। श्री अरविन्द ऐसी शिक्षा के लिए शरीर, प्राण, मन, चेतना और आत्मा इन सभी की शिक्षा आवश्यक मानते हैं। ऐसा मानने के कारण उनकी शिक्षा के पाँच प्रमुख आयाम हो जाते हैं और जिस शिक्षा में इन पाँचों आयामों की शिक्षा दी जाती है, वही शिक्षा सर्वांगीण होती है। डॉ. सुनीति मुखर्जी श्री अरविन्द को उद्धृत करते हुए इस सम्बन्ध में लिखती हैं- "शिक्षा मानव जीवन के प्रारम्भ से लेकर सम्पूर्ण जीवन भर चलती रहती है। एक ऐसी शिक्षा जो किसी लक्ष्य को स्वीकार करती हो तथा जो मानव प्रकृति की सम्पूर्ण जटिलताओं को ग्रहण करती हो, उसे ही श्री अरविन्द ने 'पूर्ण शिक्षा' या 'सर्वांगीण शिक्षा' की संज्ञा दी है। श्री अरविन्द के विचार से शिक्षा के पूर्ण होने के लिए उसमें पाँच प्रमुख पहलुओं का होना आवश्यक है। इनका सम्बन्ध मानव की पाँच प्रधान क्रियाओं से होगा- भौतिक, प्राणिक, मानसिक, चैत्यिक तथा आध्यात्मिक। साधारणतया 'शिक्षा के ये सभी पक्ष व्यक्ति के विकास के अनुसार, एक के बाद एक करके कालक्रम से आरम्भ होते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक पहलू दूसरे का स्थान ले ले, बल्कि सभी पहलुओं को जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक परस्पर एक दूसरे को पूर्ण बनाते हुए जारी रहना चाहिए।'"[८] श्री अरविन्द के अनुसार ऐसी ही सर्वांगीण शिक्षा से व्यक्ति का ऐसा संतुलित विकास होता है जिससे वह समाज के साथ पूर्ण समन्वय करने में सफल हो पाता है।

( ३ )

महात्मा गाँधी भी शिक्षा को ऐसे ही अर्थ में लेते हैं। इसलिए वे केवल अक्षर-ज्ञान को ही शिक्षा नहीं मानते बल्कि चरित्र-निर्माण को ही शिक्षा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं। मनुष्य जब चरित्रवान होता है तभी वह स्वयं का, परिवार का, समाज का तथा देश और अन्ततः सारी दुनिया का हित कर सकता है। इसीलिए वे शिक्षा के द्वारा अपने मन को नियंत्रित करने तथा अपनी इन्द्रियों को वश में करने की बात करते हैं। वे कहते हैं- "जब मैंने और आपने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हो, जब हमने नीति की नींव मजबूत बना ली हो, तब अगर हमें अक्षर-ज्ञान पाने की इच्छा हो, तो उसे पाकर हम उसका अच्छा उपयोग कर सकते हैं। वह शिक्षा आभूषण के रूप में अच्छी लग सकती है। लेकिन अक्षर-ज्ञान का अगर आभूषण के तौर पर ही उपयोग हो, तो ऐसी शिक्षा को लाजिमी करने की हमें जरूरत नहीं। हमारे पुराने स्कूल ही काफी हैं। वहाँ नीति को पहला स्थान दिया जाता है। वह सच्ची प्राथमिक शिक्षा है। उस पर हम जो इमारत खड़ी करेंगे वह टिक सकेगी।"[९]

इस इमारत को टिकाये रखने के लिए गाँधी शिक्षा के साथ परिश्रम को भी जोड़ने की बात करते हैं। उनके अनुसार, चूँकि भारत की बहुसंख्यक आबादी कृषि पर आधारित है, इसलिए यहाँ परिश्रम के द्वारा काम करने की भी शिक्षा दी जानी चाहिए। वे बुद्धिपूर्वक किये गये श्रम को ही सच्ची शिक्षा मानते हैं, इसलिए अक्षर-ज्ञान के महत्त्व को स्वीकारने के बावजूद, यह नहीं स्वीकारते कि इसके बिना मनुष्य का नैतिक, आर्थिक विकास हो ही नहीं सकता। वे इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहते हैं- "मेरी राय में तो इस देश में, जहाँ लाखों आदमी भूखों मरते हैं, बुद्धिपूर्वक किया जाने वाला परिश्रम ही सच्ची प्राथमिक शिक्षा या प्रौढ़ शिक्षा है। .....अक्षर-ज्ञान हाथ की शिक्षा के बाद आना चाहिए। हाथ से काम करने की क्षमता - हस्त-कौशल ही तो वह चीज है, जो मनुष्य को पशु से अलग करती है। लिखना-पढ़ना जाने बिना मनुष्य का सम्पूर्ण विकास नहीं हो सकता, ऐसा मानना एक वहम ही है। इसमें कोई शक नहीं कि अक्षर-ज्ञान से जीवन का सौन्दर्य बढ़ जाता है, लेकिन यह बात गलत है कि उसके बिना मनुष्य का नैतिक, शारीरिक और आर्थिक विकास हो ही नहीं सकता।"[१०]

इस प्रकार यह तय हो जाता है कि गाँधी केवल वैसी शिक्षा नहीं चाहते जो सैद्धान्तिक हो और उसे व्यावहारिक जीवन में उतारा नहीं जा सके। इसीलिए गाँधी अक्षर-ज्ञान के साथ-साथ शारीरिक श्रम को भी शिक्षा के साथ जोड़ते हैं। परन्तु इतना करने के बाद भी शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं होती, जब तक उसमें हृदय और आत्मा की शिक्षा न जोड़ी जाये। गाँधी इसी कारण उस शिक्षा को सम्पूर्ण शिक्षा

मानते हैं जिसमें शरीर, बुद्धि, हृदय और आत्मा इन सबकी शिक्षा दी जाती है। वे कहते हैं- "मेरा मत है कि बुद्धि की सच्ची शिक्षा हाथ, पैर, आँख, कान, नाक आदि शरीर के अंगों के ठीक अभ्यास और शिक्षण से ही हो सकती है। दूसरे शब्दों में, इन्द्रियों के बुद्धिपूर्वक उपयोग से बालक की बुद्धि के विकास का उत्तम और शीघ्रतम मार्ग मिलता है। परन्तु जब तक मस्तिष्क और शरीर का विकास साथ-साथ न हो और उसी प्रमाण में आत्मा की जागृति न होती रहे, तब तक केवल बुद्धि के एकांगी विकास से कुछ विशेष लाभ नहीं होगा। आध्यात्मिक शिक्षा से मेरा आशय हृदय की तालीम से है। इसलिए मस्तिष्क का ठीक और चतुर्मुखी विकास तभी हो सकता है, जब वह बच्चे की शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों की तालीम के साथ-साथ होता हो। ये सब बातें एक और अविभाज्य हैं।"[११]

गाँधी के इस वक्तव्य से यह प्रमाणित हो जाता है कि वे एक ऐसे शिक्षा-दर्शन की बात करते हैं जो मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से विकसित करता है और सैद्धान्तिक आदर्शों को जीवन में व्यावहारिक स्तर पर उतारने में सहायक होता है। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य भी यही है कि वह जीवन-दर्शन को व्यावहारिक रूप दे और चरित्र-निर्माण तथा समाज रचना का सशक्त माध्यम बने। डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय गाँधी के कथन के सहारे उनके इस शिक्षा-विषयक विचार का उल्लेख करते हुए लिखते हैं- "शिक्षा के सन्दर्भ में गाँधी की धारणा है कि 'शिक्षा वह है जो किसी की आत्मा को जगा दे, किसी के व्यक्तित्व को गरिमा प्रदान कर दे, भीतर के बन्द फूल को खिला दे।' शिक्षा केवल सूचनाओं की संवाहिका नहीं है। अतीत में अर्जित सूचनाओं को मनुष्य के भीतर भरकर शिक्षा अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकती है। मनुष्य के भीतर के ज्ञान-बीज को अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित कर देना ही शिक्षा का असली मंतव्य है। सृजन का अजस्र स्रोत जाग्रत आत्मा है। जाग्रत आत्मा के आलोक में नये-नये सृजन होते हैं। भीतर सारा ज्ञान-विज्ञान अनभिव्यक्त रूप में भरा पड़ा है जैसे बरगद के बीज में विशाल वट-वृक्ष सोया है। इसको जगाने के लिए मिट्टी, खाद और पानी की जरूरत है। .....जब तक मनुष्य अपने भीतर के देवत्व को पहचान नहीं लेता तब तक शिक्षा का मंतव्य अधूरा रहता है।"[१२]

( ४ )

शिक्षा के इस अधूरे मंतव्य को पूरा करने का प्रस्ताव रवीन्द्रनाथ टैगोर भी अपने शिक्षा-दर्शन में प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार भी शिक्षा केवल कुछ विषयों की रटन्त विद्या नहीं है बल्कि मनुष्य की सृजनात्मक ऊर्जा को जगाने वाली विधि है। इसीलिए वे केवल पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन को शिक्षा नहीं

मानते, बल्कि उन पुस्तकों में वर्णित सत्य के साक्षात्कार पर भी बल देते हैं। सत्य का यह साक्षात्कार ही यथार्थ शिक्षा है और इस सत्य तक केवल इन्द्रिय अनुभव अथवा तार्किक ज्ञान के द्वारा नहीं पहुँचा जा सकता, बल्कि सहज अनुभूति के द्वारा पहुँचा जा सकता है। इसलिए बच्चों को ऐसी ही शिक्षा दी जानी चाहिए, ताकि वे इस सत्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकें। टैगोर के अनुसार बच्चों में अपनी इन्द्रियात्मक संवेदनाओं की ताजगी के कारण इस सहज अनुभूति को प्राप्त करने की क्षमता अधिक होती है, इसलिए अनुकूल शिक्षा के द्वारा उनकी इस क्षमता का उपयोग करके उन्हें आसानी से सत्य प्राप्त करने के योग्य बनाया जा सकता है।

टैगोर यह प्रतिपादित करते हैं कि इस सत्य की प्राप्ति से उस स्वतंत्रता को प्राप्त किया जा सकता है जो कि जीवन का सारतत्त्व है। इस स्वतंत्रता के लिए संसार के भीतरी सम्बन्धों की पूर्ण संगति आवश्यक है। यह संगति सांसारिक ज्ञान की अपेक्षा उच्चतम सत्ता के साथ एकाकार होने से होती है। टैगोर शिक्षा का मूल उद्देश्य इसी उच्चतम सत्ता के साथ एकाकार होना बतलाते हैं। चाँद किरण टैगोर के हवाले से यह लिखते हैं- "टैगोर का शिक्षा-दर्शन इसी 'अनन्त विमुता' की तलाश में है। 'श्री निकेतन' का दार्शनिक दृष्टिकोण पढ़ते समय यह स्पष्ट आभास होने लगता है जैसे कि कवि टैगोर यह कहना चाहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य हमारे दैनन्दिन जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर लेने तक न सिमटा हो, अपितु उसका उद्देश्य विचार, भावना और इच्छा की दुनिया में मनुष्य की अपार क्षमता को सर्वोत्तम अभिव्यक्तियों, सृजनात्मक कार्यों से जीवन को समृद्ध बनाना है। अत: 'हमारा आदर्श घरों और विद्यालयों में उस वातावरण की रचना होना चाहिए जहाँ सर्वोच्च अस्तित्व के साथ हमारे आध्यात्मिक सम्बन्ध का विकास हो। इससे जीवन के सभी विभागों में स्वतंत्रता की अनुभूति प्राप्त होती है।'"[१३]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि टैगोर का शिक्षा-विषयक विचार एक ऐसी शिक्षा का प्रस्ताव है जहाँ सर्वोच्च अस्तित्व के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध विकसित करने पर बल दिया जाता है। इससे सारी दुनिया प्रेम के बन्धन में बँध जाती है। टैगोर ने ऐसी ही शिक्षा प्रदान करने के लिए 'शान्ति निकेतन' और 'श्री निकेतन' जैसी शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित की। ये शिक्षण-संस्थाएँ टैगोर के शिक्षा-विषयक विचारों को व्यावहारिक रूप देने वाली प्रयोगशालाएँ हैं। यहाँ वैसी शिक्षा दी जाती है जिससे व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास हो। ऐसी शिक्षा को केवल रोजगार और व्यवसाय से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। इसलिए यह शिक्षा केवल लिपिक, वकील, चिकित्सक, अभियन्ता तथा व्यवस्थापक का उत्पादन करने वाली नहीं हो सकती है। इसे तो मनुष्य के बहुआयामी समस्याओं का समाधान करने वाला होना

चाहिए। इसीलिए टैगोर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल विद्या का आडम्बर नहीं बल्कि विवेक की प्राप्ति है। चाँद किरण इस विवेक के सम्बन्ध में लिखते हैं– "टैगोर की दृष्टि में 'विवेक' का अर्थ है, जीवन और विश्व की पूर्ण संगति का संतुलन, इनके बीच संगत की सही लय की प्राप्ति। वे मानते हैं कि प्रत्येक बच्चा अपने–आप में 'सृजनात्मक' शक्ति का प्रतीक है। उनका मानना है कि अपनी सृजनशील प्रवृत्ति और शक्ति के कारण बच्चा जटिल होते जीवन को स्वयं ही समझना शुरू कर देगा, वह तथ्यों की विशाल भीड़ में स्वयं एक तथ्य मात्र बनकर न रह जायेगा। अतः संस्थान का रूप ऐसा होना चाहिए कि बच्चे के सामने अपनी क्षमता को पा लेने का अवसर बार–बार उभर सके। 'स्कूल' को उसके 'सृजनात्मक' जीवन के पाठ का रूप ले लेना चाहिए। इस दृष्टि से बच्चे के स्वाभाविक संवेगों का अपना विशिष्ट स्थान है। यही कारण है कि वे शिक्षा–व्यवस्था में शुरू से ही बच्चों के स्वाभाविक संवेगों को महत्त्व देते हैं।"[१४]

टैगोर इसके साथ–साथ चरित्र–निर्माण को भी शिक्षा का आवश्यक अंग मानते हैं, इसलिए वे ऐसी शिक्षा की बात करते हैं जिससे व्यक्ति का चारित्रिक उत्थान हो सके। परन्तु इसके लिए वे शरीर की उपेक्षा नहीं करते बल्कि उसे भी पर्याप्त स्थान देते हैं। इसीलिए वे अपने 'शान्ति निकेतन' की स्थापना उस प्राकृतिक परिवेश में करते हैं, जहाँ शिक्षा के द्वारा बच्चों के शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक तथा आत्मिक इन सभी आयामों की सम्पूर्ण शिक्षा दी जा सके। यह एक कवि की अमूर्त उड़ान को मूर्त आधार देने का व्यावहारिक प्रयास है। इसीलिए शिशिर कुमार घोष यह लिखते हैं– "कवि की आस्था सबको सहज ही छू लेती है: 'बच्चे जीवित होते हैं, उन वयस्कों की तुलना में जीवन इनके पास ज्यादा होता है जो अपनी आदतों के खोल में इन्हें कस मारते हैं। इसलिए उनके यथोचित मानसिक स्वास्थ्य और विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें अपने पाठों के लिए स्कूल न भेजा जाये, भेजा जाये एक ऐसी दुनिया में जिसकी आधारभूमि प्रेम हो। यह एक ऐसा आरम्भ हो जहाँ प्राकृतिक शान्ति में लोग एकत्र हुए हों, जहाँ जीवन सिर्फ ध्यानमय न हो, कर्ममय भी हो, जहाँ बच्चों को संकुचित देश–प्रेम घुट्टी न पिलाया जाता हो, बल्कि यह सिखाया जाता हो कि सारा विश्व ही विधाता का साम्राज्य है, विश्व–बन्धुत्व ही हमारा आदर्श, सूर्योदय–सूर्यास्त, सितारों का मूक सौन्दर्य, फल–फूलों का महोत्सव और इन सबके बीच यह प्यारी–सी अनुभूति कि बच्चे और बूढ़े, शिष्य और शिक्षक एक ही मंच पर बैठकर शाश्वत जीवन का प्रसाद चख रहे हैं।' यदि रवीन्द्रनाथ का विद्यालय–विषयक यह आदर्श है तो इसके सौन्दर्य और दुनिया के प्रच्छन्न विधायकों के बीच इसके अक्षुण्ण स्थान पर किसे सन्देह हो सकता है?"[१५] सम्भवतः किसी को नहीं,

क्योंकि टैगोर का शिक्षा-विषयक विचार वैसे मनुष्य को निर्मित करने का प्रस्ताव है जो पूर्ण स्वतंत्र, समन्वयवादी और आत्मबोध से युक्त हो।

( ५ )

इस प्रकार इन सभी विचारकों के शिक्षा-विषयक विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा का अर्थ केवल सूचनाओं का संग्रह कर लेना नहीं है बल्कि इसका वास्तविक अर्थ भीतर की सम्भावनाओं को प्रकट करना है। ऐसा करने से ही व्यक्ति का स्वस्थ विकास होता है और वह प्रेम, शान्ति और सहयोग से अपना जीवन व्यतीत करता है। इस अर्थ के आधार पर ही इन लोगों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य भी केवल भौतिक विकास और धन-संग्रह नहीं है। शिक्षा का सही उद्देश्य तो व्यक्ति का नैतिक-आध्यात्मिक उत्थान और उसका समग्र विकास है। इस समग्र विकास के अन्तर्गत उसका शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक तथा आत्मिक इन सभी आयामों का विकास आता है। इस समग्र विकास से ही मनुष्य अपना संतुलित जीवन जीते हुए समाज के लिए भी कल्याणकारी हो पाता है। चूँकि समाज व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध के आधार पर ही निर्मित हो पाता है, इसलिए जब व्यक्ति स्वस्थ और संतुलित होता है, अहिंसक और प्रेमपूर्ण होता है तभी समाज भी स्वस्थ, संतुलित, अहिंसक और प्रेमपूर्ण हो पाता है। अतः ऐसे समाज के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि बच्चे को ऐसी शिक्षा दी जाये जिससे कि उसका समग्र विकास हो, वह शान्त, प्रेमपूर्ण और आत्मबोध से युक्त जीवन जीने में समर्थ हो सके। स्वतंत्रता उसके लिए परम मूल्य हो और उसके जीवन में भौतिक सफलता के साथ-साथ आत्मिक सिद्धि का भी समन्वय हो।

परन्तु अभी की शिक्षा ऐसा कर नहीं रही है। वह मनुष्य को स्वतंत्र करने के बदले और बन्धन में डालती है। वह उसे स्वार्थी, संकीर्ण, हिंसक और असहिष्णु बनाती है; उसमें अहंकार की भावना पैदा करती है तथा अलगाव के बीज बोती है। आज व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी स्तरों पर एक-दूसरे से जो दूरी बढ़ती जा रही है तथा सारी दुनिया में शोषण, अत्याचार, हिंसा और प्रतिस्पर्द्धा का जो अनुपात बढ़ता जा रहा है, वह मनुष्य के अनैतिक और प्रेमहीन होने का सूचक है और निश्चित रूप से इसकी वजह शिक्षा है, क्योंकि शिक्षा ही मनुष्य-निर्माण की भित्ति है। जैसी शिक्षा होगी वैसा ही मनुष्य निर्मित होगा और तदनुसार समाज की संरचना भी खड़ी हो पायेगी। आज अगर व्यक्ति असहिष्णु है, समाज में वैमनस्यता फूल-फल रही है तथा सारी दुनिया में हिंसा का ताण्डव हो रहा है तो इसके मूल में शिक्षा का गलत होना ही है।

और शिक्षा के गलत होने में बाजारवाद, उपभोक्तावाद, भूमण्डलीकरण और उदारीकरण जैसी अवधारणाओं की अहम भूमिका है। आज का युग इन्हीं सारी

अवधारणाओं का युग है। इसलिए इस युग के केन्द्र में बाजार और उपभोग है। मनुष्य हमेशा अपने दैहिक सुख के लिए भौतिक वस्तुओं को जमा करने की दौड़ में लगा रहता है ताकि वह उनका अधिक-से-अधिक उपभोग कर सके। इसके लिए उसे निरन्तर बाजार में खरीद-फरोख्त करते रहना पड़ता है। भूमण्डलीकरण और उदारीकरण जैसे विचार अत्यधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से इस खरीद-फरोख्त को महिमामण्डित करते हैं और मनुष्य को इसके लिए उकसाते रहते हैं। इस उकसावे के लिए शिक्षा को इसके अनुरूप होना आवश्यक है। इसीलिए अभी शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, अभिप्राय तथा भूमिका आदि सब बदल गये हैं। अभी अपने सभी आयामों में शिक्षा इस भोगवादी मूल्य को प्रचारित और स्थापित करने में लगी हुई है जो कि व्यक्ति और समाज दोनों के लिए नुकसानदायक है। के. सच्चिदानन्दन इसे स्वीकारते हुए लिखते हैं- "चूँकि आज का दौर बाजार का दौर है, इसलिए इसमें मौजूदा शिक्षा-पद्धति की सामाजिक भूमिका कम हो जाती है। आज ज्यादातर लोग सिर्फ नौकरी के लिए पढ़ाई करते हैं, जो कि गलत है। विश्वविद्यालयों की यह जिम्मेवारी होती है कि वह छात्रों के अन्दर छिपी प्रतिभा को तलाशकर उसके हिसाब से ज्ञानार्जन के लिए सही मार्गदर्शन करे। विश्वविद्यालय और शिक्षण-संस्थान के अध्यापकों को यह चाहिए कि वे अपने छात्रों को किताबों के साथ-साथ नैतिक ज्ञान की जानकारी भी दें। हर शिक्षण संस्थान को यह कोशिश करनी चाहिए कि वह छात्रों की शिक्षा में नैतिक मूल्यों का समावेश कर अपनी सामाजिक भूमिका तय करे। कोई भी शिक्षण-संस्थान यदि अपनी सामाजिक भूमिका के बिना जी रहा है तो यह न सिर्फ छात्रों के लिए नुकसानदायक है, बल्कि हमारी सामाजिक व्यवस्था के लिए भी नुकसानदायक है।"[१६]

इस नुकसान से बचने का सूत्र विवेकानन्द, श्री अरविन्द, टैगोर और गाँधी, महामना मदनमोहन मालवीय और महन्त दिग्विजयनाथ जी जैसे विचारकों के शिक्षा-विषयक विचार से मिल सकता है, क्योंकि इन लोगों ने शिक्षा में नैतिक मूल्यों के समावेश के साथ ऐसी सम्पूर्ण शिक्षा की बात की है जिसमें व्यक्ति का भौतिक और आध्यात्मिक दोनों आयामों में संतुलित विकास होता है। अत: ऐसी शिक्षा से ही स्वस्थ समाज का भी निर्माण हो सकता है और वैश्विक स्तर पर शान्ति की स्थापना भी हो सकती है। यही शिक्षा का वास्तविक आदर्श और यथार्थ उद्देश्य है। इसलिए वर्तमान शिक्षा के प्रसंग में यह कहना लाजिमी होगा कि-

"दरवाजा कोई घर से निकलने के लिए दे
बेख़ौफ़ कोई रास्ता चलने के लिए दे
आँखों को अता ख़्वाब किये शुक्रिया, लेकिन

पैकर[१७] भी कोई ख़्वाबों में ढलने के लिए दे
सैलाब[१८] में साअत[१९] के मुझे फेंकने वाले
टूटा हुआ इक पल ही सँभलने के लिए दे।"

*–शीन काफ़ निजाम*

**सन्दर्भ:**


१. जे. कृष्णमूर्ति, 'शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व'; कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया, राजघाट शिक्षा संस्थान, राजघाट फोर्ट, वाराणसी–२२१००१, मई १९९३; पृ. १२

२. सुबोध अदावाल और माधवेन्द्र उनियाल, 'भारतीय शिक्षा की समस्याएँ तथा प्रवृत्तियाँ; उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग), राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, १९८२; पृ. १

३. स्वामी विवेकानन्द, 'शिक्षा', श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर–४४००१२, १२ दिसम्बर १९७५, पृ. ५

४. उपरिवत्, पृ. ८–९

५. उपरिवत्, पृ. ६–७

६. श्री अरविन्द, 'एसेज ऑन दि गीता': आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, १९४९, पृ. ३१९

७. डॉ. सुनीति मुखर्जी, 'श्री अरविन्द का शिक्षा–दर्शन'; रामकृष्ण प्रकाशन, १०३, गोशाला नगर, वृन्दावन (मथुरा), अप्रैल २००१, पृ. ४५–४६

८. उपरिवत्, पृ. ५५

९. गाँधी जी, 'हिन्द स्वराज'; नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–१४, दिसम्बर २००५, पृ. ७२

१०. गाँधी जी, 'हरिजन सेवक'; १५–३–'३५

११. गाँधी जी, 'हरिजन', ८–५–'३७

१२. डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय, 'गाँधी दर्शन के मूल बिन्दु'; शेखर प्रकाशन, १०१–चक जीरो रोड, इलाहाबाद, २००६, पृ. २५३

१३. चाँद किरण, 'शिक्षा: दार्शनिक परिप्रेक्ष्य'; हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, बैरक नं. २ एवं ४, दिल्ली–७, २००६, पृ. २०८

१४. उपरिवत्, पृ. २१४

१५. शिशिर कुमार घोष, 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर'; साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, ३५, फीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली–११०००१, २०१२, पृ. ९०

१६. के. सच्चिदानन्दन, "भारतीय भाषा में हो सकता है शिक्षा का प्रसार"; 'प्रभात खबर', दीपावली विशेषांक २०११, १५ पी. कोकर इण्डस्ट्रियल एरिया, कोकर, राँची–८३४००१, पृ. १४०

१७. चेहरा

१८. बाढ़

१९. समय

# आदर्श शिक्षक

**प्रो. नरेश प्रसाद भोक्ता***

मानव समाज के विकास के साथ ही शिक्षा की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी। वस्तुत: शिक्षा के बिना समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। मानव को प्राकृतिक अवस्था से ऊपर उठाकर सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने का काम शिक्षा ने ही किया है। जैसे-जैसे समाज की संरचना जटिल होती गयी वैसे-वैसे शिक्षा की भूमिका भी अधिक महत्त्वपूर्ण होती गयी। लगातार विकसित होती शिक्षा व्यवस्था के केन्द्र में अध्यापक रहा है। शिक्षा-व्यवस्था में अध्यापक की अति महत्त्वपूर्ण स्थिति को देखते हुए कोठारी आयोग (१९६४-६६) ने कहा- 'कोई भी शिक्षा व्यवस्था अपने अध्यापक के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकती है।' राष्ट्रीय शिक्षा नीति-१९८६ में तो यहाँ तक लिखा गया कि अध्यापकों की स्थिति समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिबिम्बित करती है। कोई भी राष्ट्र अपने अध्यापकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता है। इस प्रकार एक प्रभावशाली शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से एक आदर्श समाज के निर्माण का कार्य योग्य एवं कर्तव्यनिष्ठ अध्यापकों द्वारा ही किया जा सकता है।

**विद्या या शिक्षा का महत्त्व**

प्राचीन काल से ही एक सूक्ति अत्यन्त लोकप्रिय रही है- 'अगर आप एक वर्ष की योजना बना रहे हैं तो फसल उपजाइए, अगर दस वर्ष की योजना बना रहे हैं तो पेड़ लगाइए, और अगर सौ या उससे अधिक वर्षों की योजना बना रहे हैं तो शिक्षा के द्वारा मानव का निर्माण कीजिए। वास्तव में शिक्षा और शिक्षक अनेक पीढ़ियों को प्रभावित करता है। इसी भाव को कोठारी आयोग (१९६४-६६) ने अपने प्रतिवेदन के प्रथम वाक्य में ही स्थान दिया है- "भारत के भाग्य का निर्माण उसकी कक्षाओं में हो रहा है।" यानि कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के निर्माण में शिक्षा और शिक्षक की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

---

*शिक्षाशास्त्र विभाग, दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर-२७३००९

भारत में तो विद्या से विहीन मानव को पशु के समान माना गया है। नीति-शतक का कथन है- 'विद्याविहीनः पशुः।' पशु की अवस्था से निकाल कर मानव को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने का कार्य शिक्षा ही करती है। संस्कृत ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर कहा गया- 'ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं।' अर्थात् ज्ञान मनुष्य की तीसरी आँख है। और यह तीसरी आँख प्रकृति-प्रदत्त दो आँखों से भी अधिक दूरदृष्टि वाली है। महाभारत (XII, ३३९.६) में कहा गया- 'नास्ति विद्या समं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।' विद्या के समान कोई नेत्र नहीं है और सत्य के समान कोई तप नहीं। कौटिल्य जैसे विचारक तो विद्या को वेद और धर्म से भी श्रेष्ठ बताते हैं क्योंकि विद्या ही शास्त्र और धर्म के सच्चे स्वरूप का ज्ञान देती है। कौटिल्य के शब्दों में-

"विप्राणां भूषणं वेदः,
सर्वेषां भूषणं धर्मः,
भूषणानां भूषणं सविनय विद्या।"

## अध्यापक का महत्त्व

जैसे शिक्षा के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है, वैसे ही अध्यापक के बिना शिक्षा व्यवस्था की कल्पना सम्भव नहीं है। व्यक्ति को अज्ञानता के अन्धकार से निकाल कर ज्ञान के प्रकाश में लाने का कार्य अध्यापक का है। अध्यापक किसी भी समाज या देश की संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करता है। अध्यापक को राष्ट्र-निर्माता कहा जाता है क्योंकि उपयोगी, स्वावलम्बी एवं योग्य व्यक्तियों के निर्माण में अध्यापकों की भूमिका अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण होती है। न तो विशाल भवन, न ही महंगे उपकरण छात्रों पर उतना स्थायी और व्यापक प्रभाव डालते हैं जितना योग्य एवं चरित्रवान अध्यापक। इसीलिए प्राचीन काल से ही भारत में अध्यापकों को विद्यार्थियों का आध्यात्मिक पिता माना जाता रहा है। शतपथ ब्राह्मण (XI, ५,४) के अनुसार, 'अध्यापक उपनयन के द्वारा अपने शिष्क्य को माता की तरह (आध्यात्मिक) गर्भ में धारण कर बौद्धिक जगत् में दूसरा जन्म देता था।' इसीलिए उसे द्विज कहा गया।[१] इसीलिए गुरु को माता-पिता से भी अधिक आदरणीय माना गया।

## अध्यापकीय वृत्ति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

समाजशास्त्रियों ने अध्यापकों को, उनके गुणों के आधार पर मूल रूप से तीन वर्गों में बाँटा है-

१. दमनात्मक या तानाशाह अध्यापक (Repressionists)
२. प्रभावात्मक अध्यापक (Impressionists), तथा
३. प्रजातंत्रात्मक या मुक्तयात्मक अध्यापक (Emancipationist or Democratic teacher)

दमनात्मक या तानाशाह अध्यापक शिक्षा–प्रक्रिया में अपने को सर्वोच्च मानता है। इस तरह की शिक्षा–व्यवस्था वस्तुतः अध्यापक केन्द्रित होती है। विद्यार्थियों को कक्षा में अभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिलता है। उनकी मौलिकता एवं सृजनात्मकता को समाप्त कर दिया जाता है। अध्यापक और विद्यार्थी के बीच संवाद स्थापित नहीं हो पाता है। छात्र अपनी समस्याओं को भी अध्यापक को बताने में संकोच या भय महसूस करता है। इस तरह के अध्यापक को प्रजातांत्रिक मूल्यों एवं प्रजातांत्रिक जीवन पद्धति के विकास के लिए सर्वथा अनुपयुक्त माना जाता है। यद्यपि प्रसिद्ध समाजशास्त्री विलार्ड वालर ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी ऑफ टीचिंग' में अध्यापक के सन्दर्भ में कहा कि उसे प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला होना चाहिए जो विद्यार्थियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। विलार्ड वालर ने अध्यापक और विद्यार्थियों के मध्य सामाजिक दूरी को आवश्यक बताया ताकि अध्यापक का महत्त्व बना रहे।

प्रभावात्मक अध्यापक का व्यक्तित्व, कार्य और व्यवहार इतना प्रभावशाली होता है कि विद्यार्थी अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र ढंग से विकसित करने की जगह अध्यापक के व्यक्तित्व को आदर्श मानकर उसी तरह का बनने का प्रयास करने लगता है। इस प्रकार दमनात्मक या तानाशाह अध्यापक की तरह प्रभावात्मक अध्यापक भी छात्रों के व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में बाधक बन जाता है।

आज के प्रजातांत्रिक समाज में प्रजातंत्रात्मक या मुक्तयात्मक अध्यापक को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वह स्वयं को पृष्ठभूमि में रखते हुए विद्यार्थियों के लिए बेहतर अधिगम–परिवेश के निर्माण का प्रयास करता है। प्रजातंत्रात्मक अध्यापक छात्रों की योग्यता, रुचि एवं अभिवृत्ति के अनुरूप विकास का समुचित अवसर प्रदान करता है। विद्यार्थी की मौलिक एवं सृजनात्मक शक्ति के विकास का अवसर प्रदान करता है। यहाँ पर शिक्षक–छात्र का सम्बन्ध परस्पर सम्मान एवं सहयोग का होता है।

भारतीय सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि प्रभावात्मक एवं प्रजातांत्रिक अध्यापक के सम्मिलित गुणों वाला शिक्षक विद्यार्थी और समाज के हित में बेहतर कार्य करने में सफल होगा।

### अध्यापक से अपेक्षाएँ

प्रसिद्ध समाजशास्त्री ब्रुकओवर (१९६४) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए सोशियोलॉजी ऑफ एडुकेशन' में शिक्षक से तीन तरह की अपेक्षाओं की विवेचना की है। ये अपेक्षाएँ हैं–

१. **प्राथमिक अपेक्षाएँ** (Primary Expectations): विद्यालय में अध्यापक के जो कार्य निर्धारित हैं, वे प्राथमिक अपेक्षाओं में आते हैं। अध्यापक का छात्रों,

अन्य अध्यापकों एवं प्राचार्य से सम्बन्ध एवं उनके प्रति जिम्मदारी प्राथमिक अपेक्षाओं का हिस्सा है। इनमें विद्यालय से सम्बन्धित कार्य मुख्यत: शिक्षण एवं मूल्यांकन आते हैं।

२. **परिधीय अपेक्षाएँ** (Peripheral Expectations): इनमें पाठ्य-सहगामी क्रियाओं का आयोजन प्रमुख है। साथ ही विद्यार्थियों के अभिभावकों, प्रशासकों एवं नीति-निर्धारकों से विचार-विमर्श, सहयोग एवं समन्वय का कार्य भी परिधीय अपेक्षाओं का अंग है।

३. **अनुपूरक अपेक्षाएँ** (Secondary Expectations): समुदाय एवं बृहत्तर समाज में अध्यापक की भूमिका अनुपूरक अपेक्षाओं के अन्तर्गत आता है। अध्यापक से यह उम्मीद की जाती है कि वह समाज को सही दिशा में नेतृत्व प्रदान करे। सामाजिक समस्याओं के प्रति समुदाय को जागरूक करे और उन समस्याओं के निराकरण में सक्रिय भागीदारी करे। इन कार्यों में अध्यापक छात्रों का भी सहयोग लेने को स्वतंत्र है।

आदर्श अध्यापक इन तीनों तरह की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए अपनी भूमिका का निर्वहन करता है।

## आदर्श अध्यापक के गुण

प्रसिद्ध विद्वान लिबरमैन (१९५६) ने अपनी पुस्तक 'टीचिंग एज ए प्रोफेशन' में शिक्षण कार्य को चिकित्सकों, वकीलों, धर्मगुरुओं (चर्च) के कार्य की तरह एक 'प्रोफेशन' मानते हुए एक आदर्श अध्यापक की निम्नलिखित विशेषताएँ बतायी है-

१. **समाज को महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य सेवा प्रदान करना:** चिकित्सक या इंजीनियर की तरह अध्यापक समाज के लिए एक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य सेवा प्रदान करने वाला व्यक्ति होता है। साथ ही समाज भी अध्यापक को अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण सेवा देने वाले व्यक्ति के रूप में स्वीकार करता है।

२. **बौद्धिक तकनीक का प्रयोग:** अध्यापक से अपेक्षा की जाती है कि वह बड़े स्तर पर बौद्धिक तकनीक का प्रयोग करे। उसके पास शिक्षा से सम्बन्धित सभी पक्षों का ज्ञान होना चाहिए जिनका प्रयोग वह अपने कार्यों में करे। शूलमैन (१९८७) ने आदर्श अध्यापक के लिए निम्नलिखित पक्षों के ज्ञान को आवश्यक बताया- (i) पाठ्यवस्तु का ज्ञान, (ii) पाठ्यचर्या का ज्ञान, (iii) विद्यार्थियों की गहरी समझ, (iv) शिक्षण सिद्धान्तों एवं सूत्रों का ज्ञान, (v) शैक्षिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों का ज्ञान, एवं (vi) ऐतिहासिक-दार्शनिक सन्दर्भों में शिक्षा के उद्देश्यों, लक्ष्यों एवं मूल्यों का ज्ञान एवं समझ। इन सबका प्रयोग आदर्श अध्यापक अपने कर्तव्यों के निर्वहन में करता है।

३. **लम्बी अवधि की शिक्षा एवं विशिष्ट प्रशिक्षण:** कोई भी व्यक्ति लम्बी अवधि की शिक्षा प्राप्त कर ही अध्यापक बनता है। यह अवश्य है कि विद्यालय स्तर के अध्यापक के लिए सेवा पूर्ण प्रशिक्षण को आवश्यक माना गया है पर उच्च शिक्षा के अध्यापकों के लिए यह आवश्यक नहीं है। प्रस्तावित राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उच्च शिक्षा के अध्यापकों के लिए भी सेवा पूर्व प्रशिक्षण को स्थान देने का विचार है।

४. **स्वतंत्र वातावरण में कार्य करना:** अध्यापक व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का निर्माता होता है। इन महान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक पर कोई अनुचित दबाव न हो और स्वतंत्रता के स्वस्थ वातावरण में वह नयी पीढ़ी का निर्माण करे।

५. **समाज के प्रति जिम्मेदारी:** अध्यापक स्वतंत्रता के वातावरण में सृजनात्मक कार्य अवश्य करे पर उसे विद्यार्थी, संस्था, समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपनी जिम्मेदारियों का अहसास निरन्तर होना चाहिए। साथ ही वह इन जिम्मेदारियों को पूरा करने हेतु लगातार प्रयास करे।

६. **सेवा मूल कार्य, आर्थिक पक्ष पर जोर नहीं:** अध्यापक को एक आदर्श चिकित्सक की भाँति आर्थिक या भौतिक लाभ को ध्यान में रखे बिना सेवा भाव से कार्य करना चाहिए। अच्छे मानव या नागरिक का निर्माण करना एक ऐसा कार्य है जिसे किसी अन्य प्रोफेशन द्वारा नहीं किया जा सकता है।

७. **स्वायत्तशासी संगठन:** लिबरमैन के अनुसार अन्य प्रोफेशन की तरह अध्यापकों का स्वायत्तशासी संगठन होना चाहिए जिसका एकमात्र लक्ष्य वेतन एवं अन्य सुविधाओं में वृद्धि की माँग करना न होकर सदस्यों का विकास एवं उनके द्वारा कर्तव्य निर्वहन को सुनिश्चित करना होना चाहिए।

८. **आचार संहिता:** अध्यापकीय पेशे से जुड़े व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि वे एक आचार संहिता (Code of Ethics) का विकास करें एवं बृहत्तर समाज में कार्य करते हुए इन नैतिक मूल्यों का पालन करें। अध्यापक किसी भी समाज के सर्वश्रेष्ठ मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है अत: समाज भी उससे उच्चस्तरीय नैतिक आचरण की उम्मीद करता है।

दुर्भाग्य से आधुनिक अध्यापक इन मूल्यों का अनुसरण नहीं करता है। वह भौतिक या आर्थिक लाभ के बदले में नयी पीढ़ी को कुछ सूचनाओं को देने को ही अपना कर्तव्य मानता है। इसीलिए एडम्स ने आधुनिक विद्यालयों को 'टीचिंग शॉप' (शिक्षा की दुकान) एवं अध्यापकों को 'इन्फारमेशन मोंगर' (सूचनाओं का व्यापारी) कहा।

**भारतीय परम्परा में आदर्श अध्यापक के गुण**

भारतीय ज्ञान-परम्परा में अध्यापकों को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

शिक्षा का केन्द्र अध्यापक ही था। बिना अध्यापक के अज्ञान के अन्धकार से मुक्ति एवं सच्चे ज्ञान की प्राप्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। भारतीय परम्परा में अध्यापकों में निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक माना गया–

१. **उज्जवल चरित्र एवं श्रेष्ठ आचरण:** अध्यापक को भारतीय परम्परा में सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुणों का व्यक्ति माना गया। अध्यापक का चरित्र एवं आचरण समाज के लिए अनुकरणीय था। वह नैतिकता की प्रतिमूर्ति था।

२. **धैर्यवान एवं निष्पक्ष:** अध्यापक से यह आशा की जाती थी कि उसमें धैर्य हो ताकि वह लगातार अपने शिष्यों के चरित्र एवं आचरण का परिमार्जन कर सके। साथ ही वह अपने शिष्यों में किसी भी तरह का भेद नहीं करे।

३. **विषय का सर्वश्रेष्ठ विद्वान:** प्राचीन भारत की परम्परा थी कि अगर कोई अध्यापक शास्त्रार्थ में दूसरे अध्यापक से पराजित हो जाता था तो पराजित अध्यापक को अपना विद्यालय (गुरुकुल) बन्द कर विजयी अध्यापक का शिष्य बनना पड़ता था। पराजित अध्यापक तब तक अपना विद्यालय पुनः प्रारम्भ नहीं करता था जब तक वह विषय से सम्बन्धित सम्पूर्ण उपलब्ध ज्ञान प्राप्त नहीं कर ले। 'गोपथ ब्राह्मण' (१.१.३१) में मौद्गलय एवं मैत्रेय के बीच इस तरह के शास्त्रार्थ का उल्लेख है जिसमें मैत्रेय पराजित होता है।

४. **विद्यार्थी को सम्पूर्ण उपलब्ध ज्ञान देना:** अध्यापक का यह कर्तव्य माना जाता था कि वह विद्यार्थियों को अपना सारा ज्ञान दे। अगर वह जानबूझकर विद्यार्थियों को ज्ञान से वंचित रखता था तो उसे भयंकर पाप का भागी बनना पड़ता था। 'स्मृति कौस्तुभ' नामक संस्कृत ग्रन्थ में ऐसे अध्यापक को अगले जन्म में आम का वृक्ष बनने का उल्लेख किया गया है। आम का वृक्ष अपना सारा फल दूसरे को देने को बाध्य हो जाता है।

५. **समाज सेवा का भाव:** भारतीय परम्परा में अध्यापक भौतिक सुख-साधनों के लिए नहीं वरन् समाज की सेवा के भाव से विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करता था। एक बार शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिये जाने के बाद छात्र की सारी जिम्मेदारी अध्यापक की हो जाती थी। छात्र को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था। चीनी यात्री ह्वेनसांग, जिसने नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्ययन किया था, बताता है कि भारतीय विद्यार्थी ज्ञान के क्षेत्र में इसलिए आगे है क्योंकि उसका सम्पूर्ण खर्च अध्यापक या संस्था उठाती है, वह निश्चिन्त भाव से अध्ययनरत रहता है।

६. **सम्पूर्ण जीवन अध्ययनरत:** भारतीय ज्ञान-परम्परा में अध्यापकों से यह उम्मीद की जाती थी कि वे आजीवन अध्ययनरत रहेंगे- 'यावज्जीवमधीते

विप्र:।' अध्यापक का यह कर्तव्य था कि वह लगातार ज्ञान, मूल्य एवं कौशलों को प्राप्त करते हुए उन्हें विद्यार्थियों तक पहुँचाये। इसी तथ्य को रवीन्द्रनाथ टैगोर ने आधुनिक अध्यापकों के समक्ष रखा है- "अगर अध्यापक स्वयं अध्ययन नहीं करता है तो वह वास्तव में अपने विद्यार्थियों को नहीं पढ़ा सकता है। एक बुझा हुआ दीपक दूसरे दीपक को प्रज्वलित नही कर सकता है।"

ए.एस. अल्तेकर (१९९२) ने इनके अतिरिक्त भारतीय अध्यापकों के निम्नलिखित गुण बताये- प्रभावशाली वक्ता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, कठिन संप्रत्ययों का सरल विश्लेषण करने में सक्षम, रोचक एवं प्रेरणास्पद घटनाओं/आख्यानों का कोष, वाग्विदग्धता, आकर्षक व्यक्तित्व एवं विद्यार्थियों पर स्थायी प्रभाव छोड़ने में सक्षम।

भारतीय ज्ञान-परम्परा में कोरे ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया गया है। पशुपालन एवं कृषि कार्य शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार शिष्य सत्यकाम जाबाल की देखरेख में गौओं की संख्या ४०० से १००० हो जाती है। भिक्षाटन शिष्यों के लिए अनिवार्य धार्मिक कार्य माना जाता था। यह विद्यार्थी को विनयी बनाता था, साथ ही उसे सामाजिक परिवेश का वास्तविक ज्ञान भी देता था। भिक्षाटन वस्तुत: शिक्षण संस्था और समुदाय के मध्य के घनिष्ठ सम्बन्ध को भी रेखांकित करता है।

शिक्षा ज्ञान, मूल्य एवं कौशल से कहीं ऊपर, विद्यार्थी को आत्मज्ञान (self realisation) प्रदान करती थी। छान्दोग्य उपनिषद् (vii, १) में 'नारद-सनतकुमार संवाद' में उल्लेख है कि तमाम विद्या एवं कौशल प्राप्त कर नारद सनतकुमार के पास पहुँचते हैं और स्वीकार करते हैं- 'मैं मंत्रविद् तो हो गया पर 'आत्मविद्' नहीं हो पाया।' सनतकुमार नारद के सम्पूर्ण ज्ञान को 'शब्द'मात्र बताते हैं और आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं। आत्मज्ञान माध्यम है 'ब्रह्मज्ञान' प्राप्त करने का। सभी ज्ञानों का स्रोत 'ब्रह्म' को जानना शिक्षा का परम लक्ष्य माना गया।

आज का युग सूचना क्रान्ति का युग है। संचार-क्रान्ति ने सूचनाओं एवं ज्ञान प्राप्त करने के अनेक साधन विकसित कर दिये हैं। सूचनाओं के ढेर में से सही ज्ञान को चुनने की प्रक्रिया में आज भी अध्यापक की महत्ता कम नहीं हुई है। आदर्श अध्यापक की अनिवार्यता आज भी उसी तरह से बनी हुई है जैसी आवश्यकता छान्दोग्य उपनिषद् के काल में थी। छान्दोग्य उपनिषद् (vi, १४, १-२) में एक प्रसंग है जहाँ शिष्य गुरु की आवश्यकता के बारे में प्रश्न करता है। गुरु का उत्तर है- 'गान्धार के एक व्यक्ति की आँखें बन्द कर उसे मरुस्थल

में लाकर छोड़ दिया जाय तो वह व्यक्ति वापस गान्धार जाने हेतु दायें, बायें, आगे, पीछे जाने का प्रयास करेगा पर गान्धार पहुँच नहीं पायेगा। सच्चा गुरु उसकी आँखों से पट्टी हटा कर उसे गान्धार पहुँचने का रास्ता बतायेगा – और वह व्यक्ति गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलते हुए गान्धार पहुँच जायेगा।' आज भी हमारी स्थिति आँखों पर बँधी हुई पट्टी वाले व्यक्ति की है। आदर्श शिक्षक अपने शिष्यों को सही रास्ता दिखाता है।

**सन्दर्भ:**

१. By Upanayana, the teacher, "holding the pupil within him as in a womb, impregnates him with his spirit, and delivers him in a new birth. The pupil is then known as a *Dvija*, born a fresh in a new existence, 'twice born'."
- R.K. Mookerji, 1960, *Ancient Indian Education*, P. xxvi

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:**

१. अल्तेकर, ए.एस., १९९२, एडुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, वाराणसी; मनोहर प्रकाशन
२. ब्रुकओवर, डब्ल्यू.बी., १९६४, ए सोशियोलॉजी ऑफ एडुकेशन, न्यूयार्क; अमेरिकन बुक कम्पनी
३. कृष्णमूर्ति, जे., १९५३, एडुकेशन एण्ड दि सिग्निफिकेन्स ऑफ लाईफ, चेन्नई; कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन
४. लिबरमैन, एम., १९५६, टीचिंग एज ए प्रोफेशन, न्यू जर्सी; प्रेटिंस हॉल
५. मुखर्जी, आर.के., १९६०, एंशियंट इण्डियन एडुकेशन, दिल्ली; मोतीलाल बनारसीदास
६. प्रसाद, देवी, २००१, रवीन्द्रनाथ टैगोर, नई दिल्ली; नेशनल बुक ट्रस्ट
७. रॉस, जे.एस., १९५०, ग्राउण्ड वर्क ऑफ एडुकेशनल थ्योरी, लन्दन; हार्पर कम्पनी
८. शूलमैन, १९८७, नॉलेज एण्ड टीचिंग: फाउण्डेशन ऑफ न्यू एडुकेशन; हावर्ड एडुकेशनल रिव्यू
९. विलार्ड, वालर, १९३२, सोशियोलॉजी ऑफ टीचिंग, न्यूयार्क; जॉन वाइली।

# आदर्श शिक्षण संस्थान

**डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त***

आज जब जीवन के हर क्षेत्र में तेजी से अवमूल्यन हो रहा हो, चार पुरुषार्थों में केवल 'अर्थ' और 'काम' –'मंगल से मण्डित' काम नहीं – दैहिक काम प्रबल हो गया हो; बिना त्याग और तपस्या के, बिना सतत परिश्रम के सब कुछ तत्काल प्राप्त करने की होड़ लगी हो, तात्कालिकता ही प्रधान साधन और साध्य हो गया हो – शाश्वतता गौण या नगण्य हो गयी हो; 'झूठइ लेना, झूठइ देना, झूठइ भोजन, झूठ चबेना' (तुलसीदास) ही जीवन का सत्य हो गया हो; बाबा गोरखनाथ के शब्दों में कहा जाय तो 'कहनी' जीवन में रह गयी हो, 'करनी' कहीं कोने में दुबक कर बैठ गयी हो, जीवन का लक्ष्य 'चरितार्थता' के बदले 'सफलता' ही हो गया हो; गीता के शब्दों में कहें तो 'कार्पण्य-दोष' से जहाँ मनुष्य का स्वभाव 'उपहत' (नष्ट-क्षीण) हो गया हो – निष्कर्षत: 'आदर्श' की व्याप्ति शब्द तक ही रह गयी हो, कर्म में उसका रूपान्तरण नहीं हो पा रहा हो, वहाँ आदर्श की बात करना कितना विडम्बनापूर्ण लगता है! समाज के सभी लोग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन से अच्छी तरह परिचित हैं कि 'व्यक्ति सम्बन्धहीन सिद्धान्त मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हों, पर प्रवर्तक मन को अव्यक्त रहते हैं, वे मनोरंजनकारी तभी लगते हैं जब किसी व्यक्ति के जीवन-क्रम के रूप में देखे जाते हैं (श्रद्धा-भक्ति)। साथ ही गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' की पंक्ति 'वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई। निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई (पद सं. १२३) के भाव से भी अच्छी तरह भिज्ञ हैं। इतना सब जानने के बाद भी यदि हम आदर्श की बात करने की इच्छा रखते हैं तो केवल इसलिए कि यदि थोड़ी बहुत प्रवृत्ति आदर्श को जीवन में चरितार्थ करने की ओर गयी तो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र जीवन में सकारात्मक परिवर्तन संघटित हो सकता है।

---

*६५-आई, 'पारिजात', जंगल सालिकराम, गोरखपुर-२७३०१४

आदर्श शिक्षण संस्थान के स्वरूप और वैशिष्ट्य पर चर्चा करने से पूर्व आज के उसके यथार्थ की पड़ताल करना बहुत जरूरी है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी जिस रामराज्य का आदर्श – उसकी विस्तृत रूपरेखा, उसका ढाँचा समाज के सामने रखा उसके पहले उनके समक्ष मुगलकालीन साम्राज्य का यथार्थ विद्यमान था जिसकी एक झलक 'दोहावली' की इन पंक्तियों में मिलती है–

**गोंड, गँवार नृपाल मही यवन महा महिपाल।**
**साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल॥**

लगता है इसी के प्रतिकार में गोस्वामी जी ने निम्नांकित पंक्ति लिखी थी–

**दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।**
**जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥**

इसी प्रकार आदर्श शिक्षण संस्थान के स्वरूप निरूपण के लिए आवश्यक है कि हमारे देश में विद्यमान शिक्षण संस्थानों के यथार्थ से परिचित हो लिया जाय। आज के शिक्षण संस्थानों की बात की जाय तो सबसे पहले हमारा ध्यान उसकी विभिन्न कोटियों पर जाता है। यहाँ केवल उच्च शिक्षण संस्थानों तक ही बात सीमित रखी जा रही है। भारत की वर्तमान उच्च शिक्षा प्रणाली विश्व में चीन तथा अमेरिका के बाद तीसरे स्थान पर है। वर्तमान में भारतवर्ष में ६७७ विश्वविद्यालय तथा ३७२०४ महाविद्यालय हैं। इनमें २०१ निजी विश्वविद्यालय, ४५ केन्द्रीय विश्वविद्यालय, एक केन्द्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, १३ राज्य मुक्त विश्वविद्यालय, ७३ राष्ट्रीय महत्त्व के संस्थान, २९० राज्य विश्वविद्यालय, ३८ सरकारी डीम्ड विश्वविद्यालय, ११ सरकारी सहायताप्राप्त डीम्ड विश्वविद्यालय तथा ०३ अन्य विश्वविद्यालय हैं। इन आँकड़ों में कुछ परिवर्तन सम्भव है। इनमें लगभग तीन करोड़ विद्यार्थी पंजीकृत हैं। भारतवर्ष में लगभग ११ प्रतिशत छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं जबकि चीन में २० प्रतिशत, अमेरिका में ३० प्रतिशत तथा दक्षिण कोरिया में ९१ प्रतिशत। यह इनकी संख्यात्मक स्थिति है। यदि गुणवत्ता की दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो आँकड़े बताते हैं कि उच्च शिक्षा प्राप्त १० में से ०१ विद्यार्थी ही मानक पूरा करते हैं। यह स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक है।

विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की वर्तमान स्थिति पर नजर डालने पर एक और तथ्य की ओर हमारा ध्यान चला जाता है कि इन संस्थानों में अध्यापकों के आधे से अधिक पद रिक्त हैं। प्रयोगशालाओं तथा पुस्तकालयों की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। इन सबमें सबसे खराब दशा से गुजर रहे हैं सरकारी कहे जाने वाले महाविद्यालय, विशेषकर उत्तर प्रदेश के जो सीधे उच्च शिक्षा निदेशालय से नियंत्रित होते हैं और जिनमें अध्यापकों की नियुक्ति लोक सेवा आयोग से होती है। स्वतंत्रता के तत्काल बाद केवल उन्हीं स्थानों पर सरकार द्वारा विद्यालय खोले

जाने का निर्णय हुआ जहाँ समाज विद्यालय खोल नहीं पाता था जैसे- पहाड़ी, पठारी या वनवासी क्षेत्रों में। मैदानी भाग में समाज के सक्रिय सहयोग से, शिक्षा के व्यापक उद्देश्य को ध्यान में रखकर विद्यालय या महाविद्यालय खोले जाते थे जिन्हें बाद में शासन से अनुदान की प्राप्ति होती थी। लेकिन कालान्तर में राजनीतिक दबाव से या अन्य कारणों से सरकारी महाविद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। पर केवल भवन या फर्नीचर से तो विद्यालय चल नहीं सकते। किसी भी विद्यालय के लिए छात्र और अध्यापक का होना प्राथमिक जरूरत है। पर इन सरकारी महाविद्यालयों की स्थिति इतनी खराब है कि छात्र संख्या नगण्य है। यदि विषय स्वीकृत हैं और छात्र हैं तो विषय के अध्यापक नहीं हैं; जिस विषय का अध्यापक है तो उस विषय में छात्र नहीं। पुस्तकालयों में छात्रोपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की पुस्तकें भरी हैं। जो सरकार नियम बनाती है, शर्तें तय करती है, अन्य शिक्षण संस्थानों का उन नियमों और शर्तों के आधार पर मूल्यांकन करती है, वह अपने सीधे नियंत्रण वाले विद्यालयों में उन्हीं नियमों और शर्तों का खुला उल्लंघन करती दिखायी देती है। यह स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक है।

सरकारी अनुदानप्राप्त महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में आधे से अधिक शैक्षणिक और गैर शैक्षणिक पद रिक्त हैं। ऐसे में न तो अध्यापन का उपयुक्त वातावरण निर्मित हो पा रहा है और न ही शोध का।

विगत दस या उससे भी अधिक वर्षों से निजी महाविद्यालयों का पूरे देश में बड़ा जाल फैल गया है। इनमें से कुछ को अपवाद के रूप में लिया जाय तो अधिकांश शिक्षा के मन्दिर नहीं अपितु शिक्षा-व्यापार के केन्द्र हो गये हैं। इन संस्थानों का एकमात्र उद्देश्य धनादोहन हो गया है। अपने भविष्य की अनदेखी कर जहाँ छात्र केवल प्रमाण-पत्र के लिए प्रवेश लेते हैं। दरअसल समाज के हर क्षेत्र में बिना परिश्रम के और तत्काल फल प्राप्त कर लेने की दु:आकांक्षा का पर्याप्त प्रसार हुआ है उसमें शिक्षा क्षेत्र भी अछूता नहीं रह गया है। उच्च शिक्षा को नियंत्रित करने वाली संस्थाओं- विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.), राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा परिषद् (एन.सी.टी.ई.), अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् (ए.आई.सी.टी.ई.), राष्ट्रीय मूल्यांकन तथा प्रत्यायन परिषद् (नैक) की प्रामाणिकता संदेह के घेरे में है।

ऐसी परिस्थिति में यह एक बड़ा प्रश्न हम सबके समक्ष है कि वर्तमान शिक्षा ज्ञान की ऊँचाई को कैसे प्राप्त करे, कैसे भ्रष्टाचार आधारित व्यवस्था में वह अपनी चरितार्थता सिद्ध करे, कैसे वह संस्कारशील मनुष्य का निर्माण करे, कैसे वह राष्ट्र और समाज हित के लिए व्यक्तित्व निर्माण का संकल्प पूरा करे। शिक्षा का उद्देश्य केवल प्रमाण-पत्र के माध्यम से रोजगार उपलब्ध कराना नहीं

है, अपितु राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में भूमिका का निर्वाह करना है। आदर्श शिक्षा मनुष्य को ज्ञान-सम्पन्न, क्रिया-सम्पन्न और संवेदना-सम्पन्न बनाती है; वह कुसंस्कारों से मुक्त करती है, वह मस्तिष्क और हृदय का विस्तार करती है, आज की शिक्षा वही नहीं कर पा रही है।

एक आदर्श शिक्षण संस्थान आदर्श विद्यार्थी, आदर्श शिक्षक और आदर्श व्यवस्था का समन्वित रूप है। एक आदर्श शिक्षण संस्थान में विद्यार्थी का अध्यापक से और अध्यापक का व्यवस्था से समन्वय आवश्यक है; ये तीनों घटक एक इकाई के रूप में कार्य करें तो संस्थान आदर्श की दिशा में आगे बढ़ सकता है। इन तीनों घटकों में आत्मीय सम्बन्ध हो, तीनों एक-दूसरे से सहयोग के लिए तत्पर हों, विद्यार्थी में ज्ञान पिपासा हो, अपने अध्यापक के प्रति आदर का भाव हो, अध्यापक छात्र की जिज्ञासा शान्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील हो और व्यवस्था स्वस्थ वातावरण निर्माण के लिए सतत संकल्पबद्ध हो तो ऐसी स्थिति में विद्यालय की आन्तरिक गुणवत्ता सुनिश्चित की जा सकती है। एक आदर्श शिक्षण संस्थान की चरितार्थता केवल इसमें नहीं है कि वह समय से प्रवेश ले ले, पाठ्यक्रम पूरा कर दे और समय से परीक्षा कराकर परिणाम घोषित कर दे। यह एक पक्ष है, पर केवल यही पक्ष नहीं है। एक आदर्श शिक्षण संस्थान की चरितार्थता इसमें है कि वह विद्यार्थी के भीतर ज्ञान की लौ प्रज्वलित कर दे, उसे भविष्य की चुनौती के लिए तैयार करे, उसे जीवन-संग्राम से जूझने की शक्ति प्रदान करे।

शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है संस्कार देना। अतः एक आदर्श शिक्षण संस्थान का भी यही उद्देश्य होना चाहिए। दुखद बात यह है कि आज की शिक्षा में संस्कार का तत्त्व गौण हो गया है, वह हमें निरा भौतिक प्राणी बना रही है। आज की शिक्षा में सूचना का तत्त्व प्रधान हो गया है, शिक्षण संस्थान सूचना के केन्द्र बन गये हैं। वस्तुतः सूचना का ज्ञान में और ज्ञान का संवेदना में रूपान्तर ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। एक आदर्श शिक्षण संस्थान इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। जबतक शिक्षा संस्कारित नहीं होगी तबतक यह लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता। संस्कारशील शिक्षा के अभाव में हम 'मानव-संसाधन' का निर्माण कर सकते हैं, मनुष्य का नहीं। महान साहित्यकार एवं चिन्तक अज्ञेय ने सही लिखा है कि यद्यपि साक्षरता अनिवार्य है, पर साक्षरता अपने आपमें शिक्षा नहीं है और ऐसा भी हो सकता है कि कोरी साक्षरता संस्कार की शत्रु भी हो जाय। (शिक्षा : सांस्कृतिक सन्दर्भ, केन्द्र और परिधि, पृ. ३६९; संस्करण १९८६, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली)। अज्ञेय आगे लिखते हैं कि आज के अधिकांश विद्यालय शिक्षा के संस्थान रह ही नहीं गये हैं, वहाँ से जो प्रमाण-पत्र

मिलता है, वह भी शिक्षा-दीक्षा या योग्यता का प्रमाण-पत्र नहीं होता बल्कि एक तरह का अधिकार पत्र होता है जिसका उद्देश्य केवल यही है कि प्रमाण-पत्र पाने वाले व्यक्ति को कुछ नौकरियों के लिए आवेदन दे सकने की पात्रता दे दी गयी है (वही)। इस स्थिति से समाज चिन्तित है, दुखी है, शिकायती लहजे में बात है, पर निराश स्वर में कहता है कि इससे मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। इस निराशा से जो शिक्षण संस्थान मुक्त करने का प्रयत्न करे, वही आदर्श शिक्षण संस्थान हो सकता है।

आदर्श शिक्षण संस्थान की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह शिक्षार्थियों में गहरा मूल्यबोध जागृत करे। 'मूल्य' अपेक्षाकृत नया शब्द है। भारतीय परम्परा में 'धर्म' शब्द से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती थी, 'मूल्य' शब्द वही अर्थ देता है। यहाँ 'धर्म' शब्द का वह अर्थ नहीं है जो 'रेलिजन' या मजहब का है। इस सन्दर्भ में विचार करें तो जो शिक्षण संस्थान विद्यार्थियों में जीवन मूल्य के प्रति विवेक जागृत करे, मूल्य पहचान की सामर्थ्य उत्पन्न कर सके, शिक्षार्थी के भीतर यदि मूल्यबोध संस्कार से है तो उसे पुष्ट कर सके वही संस्थान आदर्श है। यदि ऐसा हुआ तो निश्चित है कि शिक्षण संस्थान अपनी चरितार्थता सिद्ध कर सकता है और उस संस्थान के निकले हुए शिक्षार्थी देश और समाज के लिए अपने को अर्थवान सिद्ध कर सकते हैं। महामना मदन मोहन मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के समय जो वक्तव्य दिया था, उसमें आदर्श शिक्षण संस्थान के सूत्र विद्यमान हैं- "व्यक्ति और समाज के अभ्युदय के लिए बौद्धिक विकास से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है चरित्र का निर्माण और उसका विकास। मात्र भौतिक प्रगति से कोई देश खुशहाल, समृद्ध और गौरवशाली राष्ट्र नहीं बन सकता। अत: युवाओं का चरित्र निर्माण इस प्रस्तावित विश्वविद्यालय का एक प्रमुख लक्ष्य होगा। उच्च शिक्षा द्वारा यहाँ केवल अभियन्ता, चिकित्सक, विधिवेत्ता, वैज्ञानिक और कुशल व्यापारी तथा शास्त्रज्ञ विद्वान ही तैयार नहीं किये जायेंगे बल्कि ऐसे व्यक्तियों का निर्माण किया जायेगा जिनका चरित्र उज्ज्वल हो, जो कर्तव्यपरायण और मूल्य-निष्ठा से ओतप्रोत हों। यह विश्वविद्यालय केवल अर्जित ज्ञान के स्तर को प्रमाणित कर डिग्रियाँ देने वाली संस्था मात्र न होकर सुयोग्य और सच्चरित्र नागरिकों का पौधशाला होगा।" अज्ञेय भी इस बात को रेखांकित करते हैं कि यदि शिक्षा मूल्यबोध उत्पन्न कर सके और विद्यार्थी भावी जीवन में उन मूल्यों को अर्थवान बना सके तो जो प्रमाण-पत्र मिला है, वह कुछ चमत्कार दिखाये या नहीं दिखाये, मूल्य से विकसित जो सामर्थ्य है, वह जीवन को सार्थक करने के लिए पर्याप्त होगा। विडम्बना यह है कि वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था और शिक्षण संस्थान मूल्यनिष्ठ नागरिक के निर्माण के स्थान पर केवल उपाधिप्राप्त

विद्यार्थी का निर्माण कर रहे हैं। वहाँ से निकलने वाले विद्यार्थी शुद्ध भौतिक मनुष्य होते हैं, उनमें से अधिकांश में राष्ट्रीय चरित्र का अभाव होता है, उसके भीतर मानवीय संवेदनशीलता का तत्त्व नहीं होता है, वे मात्र आर्थिक प्राणी हो जाते हैं। आदर्श शिक्षण संस्थान अपनी गतिविधियों द्वारा उनमें सामाजिक संवेदना जागृत कर सकता है, मानवीय संवेदना का विस्तार कर सकता है, जो शिक्षा का बुनियादी लक्ष्य है। विद्या वही है जो मुक्त करे - **'सा विद्या या विमुक्तये'** का यही अर्थ है कि वह लगातार आगे का क्षितिज खोलती रहती है और उसमें विश्रान्त न हो जाने की चुनौती देती रहती है - **'चरैवेति, चरैवेति'** ही इसका लक्ष्य है। हम आगे बढ़ते रहें और आगे हमारे लिए निरन्तर नये क्षितिज खुलते रहें यही इसका अर्थ है। जो संस्थान निरन्तर नये क्षितिज खोलने की प्रेरणा दे, वही आदर्श शिक्षण संस्थान है।

अन्त में 'आदर्श' शब्द पर एक बात। आदर्श कोई ऐसा बिन्दु नहीं है, जहाँ हमें पहुँच जाना है और पहुँच कर विश्राम ले लेना है। आदर्श हमेशा साध्य बना रहता है और बना रहना चाहिए। आचार्य शुक्ल का यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है- 'आदर्श व्यक्ति सिद्ध हो सकता है, पर आदर्श लोक साध्य ही रहा है और रहेगा। जिस दिन यह सिद्ध हो जायेगा उस दिन यह लोक कर्मलोक न रहेगा। फिर इसके रहने की भी जरूरत रहेगी या नहीं, नहीं कह सकते। प्रयत्न ही जीवन की शोभा है, जीवन का सौन्दर्य है- केवल अपना पेट भरने या आनन्द से तृप्त होने का प्रयत्न नहीं, लोक में उपस्थित बाधा, क्लेश, विषमता आदि से भिड़ने का प्रयत्न (काव्य में प्राकृतिक दृश्य; चिन्तामणि, भाग-२)।' सिद्धावस्था एक प्रकार की निष्क्रिय अवस्था है। हमारे ऋषियों ने सौ वर्ष जीने की प्रार्थना की, पर साथ में यह भी कहा- "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"-कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीएँ।

महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् ने अपने शिक्षण संस्थानों के लिए 'आदर्श' को मानबिन्दु माना है और उस ओर निरन्तर गतिशील है, यह शुभ लक्षण है। परिषद् के सभी संस्थान अपनी चरितार्थता सिद्ध करने की ओर निरन्तर गतिशील रहें, यही हम सबकी कामना होनी चाहिए।

# हम और हमारी संस्था

**डॉ. राजशरण शाही***

**महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के स्थापना की पृष्ठभूमि**

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत में शिक्षा की स्थिति बहुत अच्छी थी। सन् १८३०-४० के वर्षों में बंगाल और बिहार के गाँवों में लगभग एक लाख पाठशालाएँ थीं। मुम्बई और मद्रास प्रेसिडेंसी के प्रत्येक छोटे या बड़े गाँव में पाठशाला होने के प्रमाण मिलते हैं। अनेक सर्वेक्षणों से प्राप्त जानकारी से यह स्पष्ट होता है कि सन् १८०० ई. में भारत में शालेय शिक्षा प्राप्त करने वालों का अनुपात इंग्लैण्ड के छात्रों की तुलना में कम नहीं था। १९वीं सदी के प्रारम्भ में तथा उसके कुछ बाद यूरोप के किसी देश में शिक्षा का प्रचार इतना नहीं था जितना कि भारत में था। महात्मा गाँधी ने भारत की शिक्षा की तुलना एक मनोहर वृक्ष से की थी। २० अक्टूबर १९३१ को लन्दन की एक सभा में गाँधी जी ने कहा था कि ब्रिटिश राज की आँधी ने इस वृक्ष को ध्वस्त कर दिया और उसके १०० वर्षों के शासन के बाद भारतीय पहले से अधिक संख्या में निरक्षर हो गये।

अंग्रेज शासकों द्वारा भारतवासियों की शिक्षा के विरोध की सीमा का अनुमान १७९२ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर एक्ट के पास होने के समय एक डायरेक्टर द्वारा दिये गये इस बयान से लगाया जा सकता है- "हम लोग अपनी इसी मूर्खता से अमेरिका हाथ से खो बैठे, क्योंकि हमने इस देश में स्कूल और कॉलेज कायम हो जाने दिये हैं, अब फिर भारत में इसी मूर्खता को दोहराना ठीक नहीं है। १७९२ ई. की इस स्थिति के २० साल बाद तक यानि १८१३ तक भारतवासियों को शिक्षित करने के पीछे यही भाव अंग्रेज शासकों के दिल में बना रहा। परन्तु इसके पश्चात् अंग्रेज शासकों का भारत में शिक्षा विरोधी विचार बदलने लगा। इसके दो कारण थे- पहला, शिक्षित भारतीयों की संख्या का दिनों-दिन घटना, जिससे सरकारी काम में अवरोध उत्पन्न होने लगा था; दूसरा,

---

*एसोसिएट प्रोफेसर, बी.एड्. विभाग, दिग्विजयनाथ पी.जी. कॉलेज, गोरखपुर

उन्हें थोड़े से इस तरह के भारतवासियों की आवश्यकता थी, जिनके माध्यम से भारतीय जनता के हृदय के भावों की जानकारी उन्हें होती रहे जिससे कि वे इसे अपने हित के अनुकूल परिवर्तित कर सकें। १८३० की पार्लियामेण्टरी कमेटी की रिपोर्ट में इन दोनों आवश्यकताओं का बार-बार जिक्र आता है। कलकत्ता में मुसलमानों का मदरसा, बनारस में संस्कृत कॉलेज व पूना का दक्कन कॉलेज इसी उद्देश्य से खुले थे। अब थोड़े से भारतवासियों को किसी-न-किसी तरह की शिक्षा देना भारत के विदेशी शासकों के लिए अनिवार्य हो गया था। ऐसे समय में मैकाले का यह दृष्टिकोण निर्णायक साबित हुआ कि हमें भारत में इस तरह की श्रेणी पैदा करने का भरसक प्रयास करना चाहिए जो कि हमारे और उन करोड़ों भारतवासियों के बीच जिन पर हम शासन करते हैं, एक दूसरे को समझने के काम आ सकें। वे लोग ऐसे होने चाहिए जो खून और रंग की दृष्टि से तो भारतीय हों किन्तु रुचि, भाषा, भाव तथा विचार की दृष्टि से अंग्रेज हों। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य शिक्षित भारतीयों में राष्ट्रीयता के भाव कमजोर कर उन्हें सरकारी मशीनरी के उपयोगी पुर्जे के रूप में इस्तेमाल करना था। १८५८ ई. में कलकत्ता, मुम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर स्थापित इन विश्वविद्यालयों का उद्देश्य ज्ञान के प्रसार व चरित्र निर्माण के बजाय देश के नवयुवकों में नौकरशाही की भावना का बीजारोपण कर उन्हें इंग्लैण्ड के प्रति श्रद्धालु तथा परमुखापेक्षी बनाना था।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा को प्रारम्भ करते समय मैकाले के मन में एक दूसरा भी लक्ष्य था- प्रत्येक भारतीय वस्तु को निकृष्ट ठहराना। अपने कुख्यात मिनट के ९वें पैरे में उसने लिखा है- "मुझे उन (पूर्वी भाषाओं के समर्थकों) में से एक भी सदस्य ऐसा नहीं मिला जो इस बात से इन्कार करता हो कि किसी एक उच्चस्तरीय यूरोपियन पुस्तकालय की एक आलमारी के एक खाने में जितना ज्ञान भरा होता है, उसकी तुलना में भारत तथा अरब का समूचा साहित्य कुछ भी नहीं होता।" पिछली सात पीढ़ियों में मैकाले की यह धारणा भारतवासियों के मस्तिष्क में निरन्तर इस प्रकार घर कर गयी है कि आज प्रत्येक भारतवासी हर भारतीय वस्तु को घटिया समझता तथा हर पाश्चात्य वस्तु को उच्चकोटि का समझता है। ऐसी परिस्थिति में भारत में शिक्षा के पुनर्निर्माण का आधारभूत लक्ष्य इस प्रक्रिया को नष्ट करना होना चाहिए और शिक्षा के माध्यम से हर सम्भव उपाय किया जाना चाहिए जिससे भारत की नयी पीढ़ी के हृदय में से हीनता की यह भावना नष्ट हो सके तथा नवयुवकों में हमारे देश की प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति पर आधारित एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास हो सके।

इस परिप्रेक्ष्य में एक ऐसे राष्ट्रीय विद्यालय की स्थापना की आवश्यकता थी

जहाँ से निकले छात्रों की निष्ठा विदेशी शासकों के प्रति न होकर भारत और भारतीयता के प्रति हो। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अपने समाज तथा संस्कृति के प्रति लज्जा के बजाय गौरव के भाव उनके अन्दर हिलोरे लें तथा उन्हें शिक्षा के द्वारा स्वतंत्रता के राष्ट्रीय आन्दोलन में अपने निजी सुखोपभोग का त्याग करके, भाग लेने की प्रबल प्रेरणा मिल सके। इसी उद्देश्य से देश के विभिन्न हिस्सों में राष्ट्रीय शिक्षण संस्थान की स्थापना का प्रयास प्रारम्भ हुआ। इसी क्रम में काशी के राजा मुंशी माधो लाल ने काशी में राष्ट्रीय महाविद्यालय स्थापित करने के लिए तीन लाख रुपये प्रदान किये। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपने मित्रों के सहयोग से पुणे में 'समर्थ विद्यालय' की स्थापना की। अनेक विद्वान ऐसी संस्थाओं में निःशुल्क सेवा के लिए आगे आये। बलरामपुर के राजा ने प्राचीन गुरुकुलों की शैली पर नया संस्थान स्थापित करने के लिए तीन लाख रुपये दिये। भारतीय संस्कृति से अत्यन्त प्रभावित विदुषी श्रीमती एनी वेसेण्ट ने वाराणसी में १८९८ में सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना की। १९१६ में भारतीय आदर्शों और जीवन पद्धति को युवापीढ़ी के अन्दर आरोपित करने की दृष्टि के साथ पण्डित मदन मोहन मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की।

## महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के उद्देश्य

इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा के दुष्परिणामों से देश की युवा पीढ़ी को बचाने की दृष्टि से कुछ बड़े नगरों में राष्ट्रवादी शिक्षा के प्रयास प्रारम्भ हुए। इन्हीं प्रयत्नों की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में नाथपन्थ के युवा संन्यासी युगपुरुप महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज द्वारा अशिक्षा और गरीबी से संत्रस्त पूर्वांचल की युवा पीढ़ी में शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रवादी चेतना विकसित करने हेतु १९३२ में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की स्थापना की गयी। भारतीय स्वतंत्रता के स्वप्नद्रष्टा महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के माध्यम से समाज में एक ऐसी तेजस्वी और तपस्वी युवा शक्ति तैयार करना चाहते थे जो आजाद भारत के पुनर्निर्माण में अपनी महती भूमिका सुनिश्चित करे। ऐसी युवा शक्ति जो ज्ञानवान होने के साथ ही साथ चरित्रवान भी हो तथा व्यक्तिगत हितों के पोषण के बजाय राष्ट्रीय हितों के रक्षार्थ सतत सक्रिय रहे।

महन्त दिग्विजयनाथ जी के अनुसार शिक्षा राष्ट्रीय विकास - सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास का एक सबल साधन है। अतः राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए जो कि भारतवासियों में देश की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर आधारित एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास करे।

महन्त जी का मानना था कि अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा देश के युवाओं में अपने धर्म तथा संस्कृति के प्रति हीनता का बोध उत्पन्न करने का सुनियोजित प्रयास

किया गया था, जिसकी बहुत ही स्पष्ट अभिव्यक्ति १२ अक्टूबर १९३६ को मैकाले द्वारा अपने माता-पिता को लिखे पत्र द्वारा होती है जिसमें उसने लिखा था- "हमारे अंग्रेजी स्कूल आश्चर्यजनक ढंग से प्रगति कर रहे हैं। हिन्दुओं पर इस शिक्षा का विलक्षण प्रभाव पड़ रहा है। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाला कोई भी हिन्दू अपने धर्म के प्रति आस्थावान नहीं रहता। मुझे दृढ़ विश्वास है कि हमारी शिक्षा सम्बन्धी योजना के अनुसार कार्य चलता रहा तो ३० वर्ष पश्चात् बंगाल के सम्भ्रान्त वर्ग में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रह जायेगा। इसके लिए धार्मिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं होगी। वह तो ज्ञान और विचारशीलता की सहज प्रक्रिया मात्र से स्वयं ही हो जायेगा। इस सम्भावना पर मैं अति आनन्दित हूँ।" अत: अंग्रेजी शिक्षा की योजना में भारत में ऐसी युवा पीढ़ी तैयार करना था जो भारतीय मूल्यों, परम्पराओं के प्रति हीनता के भाव रखे। इस प्रकार की पृष्ठभूमि में संस्थापित महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् का उद्देश्य था- शिक्षा के माध्यम से भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान युवा तैयार करना, हिन्दुत्व के श्रेष्ठतम आदर्शों को छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करना तथा उन आदर्शों को छात्र अपनी जीवन शैली का हिस्सा बनाये इस हेतु उन्हें अभिप्रेरित करना।

इस सन्दर्भ में सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि आजादी के बाद भी हम अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था को ही लेकर आगे बढ़ रहे थे। यद्यपि कि आजादी के बाद उच्च शिक्षा में सुधार हेतु राधाकृष्णन आयोग तथा माध्यमिक शिक्षा में सुधार हेतु मुदालियर आयोग का गठन हुआ था फिर भी भारत में प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन हेतु एक समेकित प्रयास की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु शिक्षा आयोग का गठन १४ जुलाई १९६४ को दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में किया गया था, शिक्षा आयोग (१९६४-६६) के प्रतिवेदन पर विचार करते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति के सन्दर्भ में एक प्रारूप तैयार करने की दृष्टि से संसद सदस्यों की गठित समिति के सदस्य के रूप में हिन्दू महासभा के एकमात्र प्रतिनिधि महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज भी सम्मिलित हुए थे।

संसद सदस्यों की समिति द्वारा तैयार राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रारूप-पत्र पर महन्त दिग्विजयनाथ जी ने जो असमति के साथ टिप्पणी लिखी वह भारतीय शिक्षा का राष्ट्रीय दस्तावेज है। उनके असहमति-पत्र को महन्त जी के शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण के दर्पण के रूप में देखा जा सकता है। शिक्षा सम्बन्धी महन्त जी के विचारों पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके विचार भारतीय शिक्षा के सन्दर्भ में सार्वकालिक हैं। वर्तमान शिक्षा के सन्दर्भ में वे विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। शिक्षा सम्बन्धी उनकी इस टिप्पणी में

सचमुच महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के उद्देश्य समग्र रूप दृष्टिगत होते हैं।

महन्त जी ने लिखा है– "शिक्षा जनता की परम्पराओं पर आधारित न होने के कारण शिक्षित वर्ग अपनी ही संस्कृति से दूर होता जा रहा है। स्थानीय, धार्मिक, भाषायी तथा राज्य सम्बन्धी निष्ठाओं के अभाव में लोग भारत के समूचे रूप को ही भूल गये हैं। समाज को सूत्रबद्ध करने वाले मूल्य लुप्त हो रहे हैं। उनके स्थान पर सामाजिक उत्तरदायित्व वाले कोई प्रभावी कार्यक्रम नहीं हैं। इससे सामाजिक विघटन के असंख्य लक्षण सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं, और बढ़ते ही जा रहे हैं।" महन्त जी का स्पष्ट अभिमत था कि शिक्षा राष्ट्रीय-सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विकास का एक सबल साधन है। अतः राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए जो कि भारतवासियों में देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर आधारित एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास कर सके। महन्त जी की दृष्टि में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे देश में संस्कृतनिष्ठ राष्ट्रभक्त नागरिकों कीशृंखला तैयार की जा सके।

महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज ने राष्ट्रवादी शिक्षा के प्रसार के लिए जिस महाराणा प्रताप शिक्षा परिपद् का बीजारोपण किया था उसको अपने ओजस्वी मार्गदर्शन से आगे बढ़ाने का कार्य उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने किया। महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के नेतृत्व में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् ने चतुर्दिक प्रगति करते हुए शिक्षा, चिकित्सा तथा सेवा के क्षेत्र में विशिष्ट पहचान बनायी है। महन्त अवेद्यनाथ जी सामाजिक समरसता को भारत की एकता और अखण्डता की आवश्यक शर्त मानते थे। उनका मानना था कि भारतीय समाज में ऊँच-नीच का विभेद जब तक रहेगा तब तक भारत का पुनरुत्थान सम्भव नहीं है। महन्त जी का मानना था कि ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि के आधार पर हिन्दू समाज को बाँटने का कुत्सित प्रयास चल रहा है। हिन्दू समाज में ऊँच-नीच, छुआछूत की भावना जब तक समाप्त नहीं होगी, हिन्दू समाज पर अन्यों का अत्याचार बन्द नहीं होगा। हिन्दुत्व को यदि बचाना है तो हिन्दू समाज में व्याप्त रूढ़ियों और कुरीतियों को त्यागना ही होगा। ऐसी स्थिति में समाज में व्याप्त विभेद का प्रतिकार करते हुए समर्थ भारत के लिए समरस समाज के निर्माण हेतु युवा तैयार करना महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् का उद्देश्य बन जाता है।

गोरक्षपीठ के वर्तमान पीठाधीश्वर पूज्य महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज के नेतृत्व में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् शिक्षा, चिकित्सा, सेवा तथा अध्यात्म के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट कार्यपद्धति के कारण नये-नये प्रतिमान स्थापित कर रहा है। महन्त जी का मानना है कि शिक्षालय राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के व्यापक

सन्दर्भ में तभी अपनी भूमिका का प्रभावी ढंग से निष्पादन कर सकते हैं जब वे 'इन्फॉर्मेशन सेण्टर' के बजाय 'ट्रांसफॉर्मेशन सेण्टर' के रूप में कार्य करें। अनुशासन ट्रांसफॉर्मेशन के लिए अनिवार्य शर्त है। बिना अनुशासन के निर्माण की प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकती है। मनुष्य निर्माण तो अनुशासन के बिना सम्भव ही नहीं है। अतः शिक्षालयों को मनुष्य निर्माण के केन्द्र के रूप में कार्य करना है तो अनुशासन को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी। महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज अनुशासन को शिक्षालयों में बहुत ही व्यापक रूप में लागू करना चाहते हैं। इसीलिए यह अनुशासन शिक्षक और छात्र के कक्षागत व्यवहार तक ही सीमित नहीं होता है। उनके अनुशासन का एक प्रमुख आयाम आर्थिक अनुशासन है। महन्त जी का मानना है कि शिक्षा समाज से यदि प्रभावित होती है तो उसका दूसरा पक्ष यह है कि वह समाज को प्रभावित भी करती है। अतः शिक्षालय का वातावरण इस प्रकार से नियोजित किया जाना चाहिए कि सामाजिक जीवन के लिए भी वह प्रेरणास्पद बन सके। इसके लिए आवश्यक है वहाँ देश की भावी पीढ़ी को सभी प्रकार के अनुशासन का प्रशिक्षण प्राप्त हो। प्राचार्य से शिक्षक, शिक्षक से छात्र और छात्र से समाज तक अनुशासन का प्रवाह व्यापक रूप में तथा द्विमार्गी होना चाहिए। इस प्रकार का परिवेश शिक्षालय यदि विद्यार्थी को उपलब्ध कराते हैं तो वहाँ से जो युवा निकलेंगे वे राष्ट्रीय चेतना से युक्त भ्रष्टाचारमुक्त भारत के लिए संकल्पित होंगे। अतः इस प्रकार के परिवेश से युक्त शिक्षालय ही सही अर्थों में राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के जाग्रत केन्द्र बन सकेंगे।

अनुशासन और चरित्र निर्माण के साथ ही साथ महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाएँ स्वच्छता के प्रति संकल्पित हों, ऐसा महन्त जी का आग्रह रहता है। उनका मानना है कि व्यक्तित्व के विकास में वातावरण की अहम भूमिका होती है। भौतिक वातावरण से विद्यालय का शैक्षिक वातावरण प्रत्यक्षतः प्रभावित होता है। यदि शिक्षालय का वातावरण स्वच्छ होगा तभी स्वच्छ भारत के लिए संकल्पित युवा समाज को प्राप्त होंगे। अतः शैक्षिक गुणवत्ता के लिए योगी जी स्वच्छता और अनुशासन को महत्त्वपूर्ण आयाम के रूप में देखते हैं।

इस प्रकार अपने संस्थापकों की शैक्षिक दृष्टि को साकार करने हेतु महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के निम्नांकित उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते हैं–

- संस्कृतनिष्ठ राष्ट्रभक्त युवा तैयार करना।
- ज्ञानवान के साथ-साथ संस्कारवान युवा तैयार करना।
- युवाओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना।
- देश के महापुरुषों व प्रतीकों के प्रति गौरवभाव का विकास करना।
- स्वच्छ भारत के लिए संकल्पित युवा शक्ति तैयार करना।

- समर्थ भारत के लिए अनुशासित छात्र शक्ति तैयार करना।
- राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को सुदृढ़ करने हेतु सामाजिक समरसता को जीवन पद्धति का हिस्सा बनाना।
- छात्रों के अन्दर रचनात्मक दृष्टिकोण का विकास करना।
- प्रबन्धकीय व संगठनात्मक दक्षता विकसित करना।
- छात्रों को उभरते हुए मुद्दों जैसे- पर्यावरण, पारिस्थितिकी, जनसंख्या, लैंगिक समानता, कानूनी साक्षरता आदि के प्रति संवेदनशील बनाना।
- उनमें समुदाय की आकांक्षाओं व अपेक्षाओं की समझ उत्पन्न करना तथा शिक्षालय और समुदाय के परस्पर सम्बन्धों को सुदृढ़ करना।

## महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के उद्देश्यों के संदर्भ में हमारी भूमिका

शैक्षिक प्रशासक, शिक्षाविद्, प्रबन्धक, प्राचार्य, शिक्षक, छात्र, अभिभावक, समुदाय तथा पुरातन छात्र की भूमिका शिक्षण संस्थानों के संचालन में किसी-न-किसी रूप में रहती है। 'हमारी भूमिका' से आशय मुख्य रूप से शिक्षक की भूमिका से है। यद्यपि कि शिक्षालयों की दशा और दिशा के निर्धारण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका संस्थाध्यक्ष/प्राचार्य की होती है। इसकी भूमिका को रेखांकित करते हुए कहा गया है कि शिक्षालय एक ऐसा जलपोत है जिसकी पतवार प्राचार्य के हाथ में होती है। यदि प्राचार्य सक्षम, प्रतिबद्ध तथा प्रभावी है तो शिक्षालय अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल होते हैं। परन्तु यदि प्राचार्य के अन्दर संस्था को कहाँ ले जाना है इसकी स्पष्ट दृष्टि नहीं है तथा इस दृष्टि को साकार करने की कार्य योजना नहीं है, ऐसी दशा में संस्था की स्थिति उस जलपोत की हो जाती है जो दिशाहीनता के कारण अपने गंतव्य को नहीं प्राप्त कर पाती है।

शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में शिक्षक की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका को रेखांकित करते हुए कोठारी आयोग (१९६४-६६) ने कहा है कि भारत के भाग्य का निर्माण उसकी कक्षाओं में हो रहा है। कक्षाओं के संचालन का दायित्व शिक्षक के हाथ में होता है। अत: शिक्षक भारत के भाग्य का निर्माता हैं। १९८६ की शिक्षा नीति में शिक्षा की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि शिक्षक देश के सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों को उद्घाटित करता है। अत: कोई भी राष्ट्र अपने शिक्षक के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता है।

आज शिक्षा में बढ़ती हुई बाजारवादी प्रवृत्ति के कारण भौतिक संसाधनों को गुणवत्ता के प्रमुख निर्धारक के रूप में देखा जाने लगा है, जबकि गुणवत्ता के निर्धारण में भौतिक संसाधनों की भूमिका अत्यन्त ही सीमित है। गुरुकुल में पेड़ के नीचे पढ़ाई होती थी लेकिन वहाँ शिक्षा की गुणवत्ता बेमिसाल थी परन्तु आज

ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं में पढ़ाई होती है परन्तु वहाँ शिक्षा की गुणवत्ता प्रश्नों के घेरे में है। वास्तव में मनुष्य निर्माण के केन्द्र के रूप में शिक्षण संस्थानों में शिक्षक की भूमिका असीमित है। १९८६ की शिक्षा नीति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई नहीं कह सकता है कि व्यक्ति निर्माण की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका कहाँ समाप्त होती है।

इस प्रकार राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् ने गुणात्मक विद्यालयी शिक्षा हेतु शिक्षक की प्रतिबद्धता, दक्षता तथा प्रदर्शन को आवश्यक मानते हुए पाँच प्रतिबद्धता के क्षेत्रों, दस दक्षता के क्षेत्रों तथा पाँच प्रदर्शन के क्षेत्रों का उल्लेख किया है-

## शिक्षक के पाँच प्रतिबद्धता के क्षेत्र

अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में आम तौर पर प्रतिबद्धता को सर्वाधिक प्रभावी घटक माना जाता है। दुर्भाग्य से अब यही मुद्दा पूरी तरह से पृष्ठभूमि में चला गया है। अब अध्यापक शिक्षा के कार्यक्रमों में प्रेरणा, प्रतिबद्धता व निष्ठा पर पर्याप्त जोर नहीं दिया जाता है। यह वह क्षेत्र है जिसके लिए मनोवृत्ति में परिवर्तन की जरूरत होती है। शिक्षक की मनोवृत्ति में सकारात्मक परिवर्तन आता है तो उसके प्रत्येक कार्य-व्यवहार में शैक्षिक गुणवत्ता प्रत्यक्षतः दृश्यमान होने लगती है। राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् ने अध्यापकों के अन्दर पाँच प्रकार की प्रतिबद्धताओं की आवश्यकता पर जोर दिया है-

***शिक्षार्थी के लिए प्रतिबद्धता*** (Commitment to students): युवावस्था में विद्यार्थी की बहुत ही संवेदनशील तरीके से देखभाल की आवश्यकता होती है। शिक्षक द्वारा उनके रुझानों, प्रवृत्तियों, आकांक्षाओं और शैक्षणिक योग्यताओं को समझना, जिससे कि उनके शरीर, मस्तिष्क और आत्मा का समग्र विकास हो सके। बच्चों की गलतियों और बालपन से जुड़ी शरारतों के प्रति सहनशीलता विकसित करना और शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में उसके सही निहितार्थ निकालना जिससे कि उसका स्वस्थ तथा समरस विकास हो सके। व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया में बच्चों के प्रति स्नेह का प्रदर्शन तथा सुखद परिस्थितियों के साथ उन्हें जोड़ना प्रतिबद्धता की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास हो सकता है। शिक्षक को बच्चों के प्रति अपने व्यवहार का आत्मपरीक्षण तथा स्वमूल्यांकन करते रहना चाहिए जिससे कि स्वयं के विस्तार के लिए आवश्यक जानकारियाँ मिलती रहें।

***समाज के लिए प्रतिबद्धता*** (Commitment to society): आज शिक्षालय और समाज के अन्तर्सम्बन्ध कमजोर पड़ते दिख रहे हैं। शिक्षण की प्रक्रिया सामाजिक सन्दर्भों में सम्पन्न होती है अतः समाज की आवश्यकताओं को समझना और उसकी पूर्ति हेतु प्रयत्न करना शिक्षालयों का दायित्व बनता है। समाज के लिए

प्रतिबद्ध अध्यापक ही उसके सदस्यों के बीच अपनत्व के भाव विकसित कर सकते हैं। शिक्षकों को स्थानीय समुदाय के सन्दर्भ को समझना होगा, उसकी सभी गतिविधियों में भागीदार होना पड़ेगा और उसे आश्वस्त करना होगा कि वे उसी के अंग हैं और जब भी आवश्यकता समाज को पड़ेगी उसकी मदद के लिए तत्पर रहेंगे।

प्राकृतिक आपदाओं, अकाल, बाढ़, आग आदि की स्थिति में शिक्षालय मूकदर्शक बनकर नहीं रह सकते। १९३१ में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के दौरान जब मदन मोहन मालवीय जी लन्दन गये थे तो उनको वहाँ जानकारी हुई कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के बगल में जनान्दोलन को दबाने के लिए पुलिस ने गोली चलायी और स्थानीय समाज के कुछ लोग उसमें हताहत हुए हैं तब मालवीय जी ने कहा कि मुझे प्रसन्नता हुई होती जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र भी जनता के उस संघर्ष में शामिल हुए होते। स्थानीय समाज की समस्याओं से विमुख होकर शिक्षक और शिक्षार्थी शिक्षा के वास्तविक निहितार्थ को नहीं समझ सकते। अत: शिक्षक का यह दायित्व है कि वह समाज की समस्याओं को समझे तथा उसके समाधान हेतु सतत सचेष्ट व प्रयत्नशील रहे।

***व्यवसाय के लिए प्रतिबद्धता*** (Commitment to Profession): भारत में शिक्षा व ज्ञान के प्रसार की लम्बी परम्परा रही है इसीलिए अध्यापन को भारत में सबसे सम्मानजनक व्यवसायों में से एक माना जाता रहा है। परन्तु अब स्थिति बिल्कुल अलग है। अध्यापक को अब अर्थव्यवस्था के बाकी श्रम-शक्ति की ही तरह कर्मचारी समझा जाता है। अत: अध्यापन के व्यवसाय की गरिमा को कम करने वाले कारकों की पहचान करना और उसे दूर करना शिक्षकों का शिक्षकीय दायित्व बनता है। व्यवसाय के रूप में अध्यापन की गरिमा के प्रति आन्तरिक विश्वास होना और यह मानना कि अध्यापन एक ऐसा कार्य है जो शिक्षक को राष्ट्र निर्माण के लिए तैयार करता है। यह एक जोरदार प्रेरणा और संतुष्टि उपलब्ध कराता है।

***उत्कृष्टता हासिल करने के लिए प्रतिबद्धता*** (Commitment to Excellence): 'आज जो मैंने किया है, उससे बेहतर करने का तरीका भी है।' यह वाक्य उत्कृष्टता की ओर सतत उन्मुखीकरण हेतु शिक्षक को अभिप्रेरित करता है। व्यावसायिक उत्कृष्टता हासिल करने के लिए प्रतिबद्धता विकसित कर शिक्षक इस व्यवसाय को सबसे सम्मानित व्यवसाय होने का दर्जा पुन: दिला सकता है। उत्कृष्टता की कोई अन्तिम सीमा नहीं होती है, इस मान्यता के साथ उत्कृष्टता की यात्रा हेतु सतत प्रयत्नशील रहकर शिक्षक मित्र, मार्गनिर्देशक और दार्शनिक की भूमिका निभाने हेतु अपने को तैयार कर सकता है। व्यक्ति को व्यक्तित्व के रूप में रूपान्तरित करने, उसे मनुष्य से देवत्व की ओर ले जाने के गुरुतर

दायित्व का निर्वहन करने हेतु यह अपेक्षित है कि वह ज्ञान के साथ ही साथ कार्य-व्यवहार व आचरण की श्रेष्ठता की ओर सदैव अग्रसर होता रहे।

***बुनियादी मूल्यों के लिए प्रतिबद्धता*** (Commitment to basic human values): शिक्षक छात्रों के लिए आदर्श होता है। इसीलिए शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक का ज्ञानवान होने के साथ ही साथ चरित्रवान होना आवश्यक है। शिक्षा वास्तव में दबाव उत्पन्न करने की नहीं अपितु प्रभाव उत्पन्न करने की प्रक्रिया है। जब छात्र शिक्षक के सम्पर्क में आता है तो उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से उसके निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यह कहा जाता है कि शिक्षक वास्तव में वह नहीं पढ़ाता है जो वह पढ़ाना चाहता है; वह वही पढ़ाता है, जो वह है।

मूल्यों को आत्मसात करना, मूल्यों को विकसित करना, मूल्य आधारित शिक्षा प्रदान करना आदि ऐसे मुद्दे हैं जिनकी अपेक्षा समाज शिक्षक से करता है। शिक्षा नीतियों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शिक्षक के प्रमुख दायित्वों में से एक मूल्यों को आत्मसात करना है। यह दायित्व शिक्षक के ऊपर थोपा नहीं गया है शिक्षक ने इसे स्वयं स्वीकार किया है। शिक्षालय के भीतर अथवा बाहर शिक्षक के व्यवहार में सत्य, प्रेम, सहयोग, ईमानदारी, नियमितता, प्रामाणिकता, पारदर्शिता, वस्तुनिष्ठता आदि बुनियादी मूल्यों का प्रकटन होना चाहिये। पाठ्यक्रम के निष्पादन और व्यक्तिगत उदाहरण के द्वारा शिक्षक शाश्वत मानवीय मूल्यों को आत्मसात् करने हेतु छात्र को अभिप्रेरित कर सकता है। इसके लिए मूल्यों को बढ़ावा देने वाली गतिविधियों जैसे भूमिका-खेल, प्रश्नोत्तरी, कहानी सुनाना, नाटक, महान व्यक्तियों की आत्मकथाएँ सुनाना, विभिन्न सामाजिक शैक्षिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर कार्यशालाएँ एवं इन विषयों पर अन्य जीवन्त आयोजनों के द्वारा शिक्षक शिक्षार्थियों के बीच मानवीय मूल्य विकसित कर सकता है।

**दस दक्षताएँ** (Ten Competencies)

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् ने शिक्षकों, शिक्षक अध्यापकों (Teacher educators), पाठ्यक्रम विकसित करने वालों व विभिन्न श्रेणी के विशेषज्ञों के साथ सघन वाद-संवाद के जरिये दस परस्पर सम्बद्ध दक्षताओं की पहचान की है, जो एक योग्य अध्यापक हेतु अपेक्षित हैं।

***प्रासंगिक दक्षताएँ*** (Contextual Competencies): शिक्षा की प्रक्रिया सामाजिक तथा सांस्कृतिक सन्दर्भों में सम्पन्न होती है। इसीलिए शिक्षक को सामाजिक तथा सांस्कृतिक सन्दर्भों की गहरी समझ तथा उसमें प्रभावी ढंग से काम करने की दक्षता होनी चाहिए। उसे अपने विषय के ज्ञान के साथ ही साथ विकासात्मक गतिविधियों, पर्यावरणीय समस्याओं, सामाजिक संरचना तथा सांस्कृतिक मूल्यों, संवैधानिक प्रावधानों तथा सूचना प्रौद्योगिकी आदि की समझ होनी चाहिए। सीखे हुए ज्ञान का विभिन्न

परिस्थितियों में प्रयोग की दक्षता शिक्षक की प्रभावशीलता के लिए आवश्यक है। शैक्षिक समस्याओं को चिह्नित करना, उनको प्रभावित करने वाले कारकों को जानना तथा समस्या के निराकरण हेतु प्रभावी प्रयास करना शिक्षक का दायित्व होता है। अतः उसे इस दृष्टि से भी दक्ष और प्रभावी होना चाहिए।

***अवधारणात्मक दक्षताएँ*** (Conceptual Competencies): शिक्षार्थी की बदलती सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में शिक्षा की अवधारणा को समझने की आवश्यकता है। इसका अर्थ है कि हमें केवल मौजूदा सन्दर्भों में ही नहीं बल्कि नये घटनाक्रमों के सन्दर्भ को समझने की जरूरत है। जब शिक्षक वैश्वीकरण, आधुनिकीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी की अवधारणा को समझने लगता है तब पाठ्यक्रम आदान-प्रदान करने की उसकी रणनीति में बदलाव आ जाता है।

***पाठ्यक्रम सम्बन्धी दक्षताएँ*** (Content Competencies): शिक्षक की अपने विषय-वस्तु अथवा पाठ्यक्रम पर गहरी पकड़ होनी चाहिए। शिक्षक को इतना दक्ष व योग्य होना चाहिए कि वह तथ्यों के बीच समन्वय स्थापित कर सके, रटने की प्रवृत्ति को कम कर सके तथा कक्षा-शिक्षण को रोचक उदाहरणों व दृष्टान्तों के माध्यम से आनन्ददायक बना सके। बच्चों की अधिगम सम्बन्धी समस्याओं को जानना तथा उनका मूल्यांकन करना तथा प्रत्येक शिक्षार्थी की व्यक्तिगत जरूरतों को पूरा करने के लिए समाधानात्मक अध्यापन रणनीतियाँ विकसित करने के लिए प्रयास करना, तथा उसमें निपुणता हासिल करना, अध्यापक का दायित्व होता है।

***कार्य निष्पादन दक्षताएँ*** (Transactional Competencies): निष्पादन सम्बन्धी योग्यताओं को अध्यापक शिक्षा की रीढ़ माना जा सकता है। अगर इन्हें व्यापक रूप से विकसित किया जाये तो इससे शिक्षक के अन्दर कक्षा में कार्य करने की क्षमता में अभिवृद्धि हो सकती है। शिक्षार्थियों के स्तर के अनुरूप कक्षा के भीतर सम्पर्क-संवाद को प्रभावी बनाने हेतु विभिन्न प्रकार की पाठ-योजनाओं को तैयार करने में सुविधा हो सकती है।

***अन्य शैक्षणिक गतिविधियों से जुड़ी दक्षताएँ*** (Competencies in other Educational Activities): निर्धारित पाठ्यक्रम की गतिविधियों के माध्यम से बच्चों का संज्ञानात्मक विकास हो पाता है इस प्रकार का प्रयास शिक्षार्थी के समग्र विकास के लिए अपर्याप्त है। शिक्षा में अन्य शैक्षिक गतिविधियों पर ध्यान न दिये जाने के कारण कई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। अतः शिक्षार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षालय में प्रार्थना-सभा, वार्षिकोत्सव, गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस, पर्यावरण दिवस आदि कार्यक्रमों का कुशलतापूर्वक आयोजन करना शिक्षक का दायित्व बनता है।

***अध्ययन व अध्यापन सामग्री विकसित करने सम्बन्धी दक्षताएँ*** (Competencies related to Teaching-Learning Material): स्कूली शिक्षा विशेषकर अध्यापक शिक्षा अब केवल निर्धारित पाठ्यपुस्तकों तक ही सीमित नहीं रह गये हैं। छात्रों की रुचियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार अध्ययन-अध्यापन सामग्री का निर्माण कर शिक्षक अपनी प्रभावशीलता को बढ़ा सकता है। इसके लिए अध्यापक के स्तर पर अन्तर्दृष्टि, संसाधन-सम्पन्नता और योग्यता की आवश्यकता होती है। ज्ञान ग्रहण करने की परिस्थितियाँ इतनी तेजी से बदल रही हैं, उनके अनुरूप अपनी प्रासंगिकता को बनाये रखने हेतु शिक्षक को शोध-पत्रिकाओं, पत्रिकाओं, समाचार-पत्र, दूर संचार माध्यमों, पुस्तकालय का कुशलतापूर्वक प्रयोग शिक्षक के लिए अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है।

***मूल्यांकन दक्षताएँ*** (Evaluation Competencies): मूल्यांकन शिक्षा प्रणाली की सबसे कमजोर कड़ी है। अंकों व श्रेणियों के आवंटन पर आधारित परीक्षा प्रणाली ने बच्चों को विफल या दोयम दर्जे का घोषित कर भारी नुकसान पहुँचाया है। वर्ष भर में एक या दो बार मूल्यांकन के बजाय सतत व व्यापक मूल्यांकन की प्रक्रिया को अपनाकर छात्रों के सीखने सम्बन्धी कमजोरी का निदान किया जा सकता है। केवल संज्ञानात्मक विकास तक मूल्यांकन को सीमित रखना शैक्षिक उद्देश्यों के साथ न्याय नहीं है क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा मनोगत्यात्मक विकास है। ऐसी स्थिति में मूल्यांकन को उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण बनाने के साधन के बजाय छात्रों की कमजोरियों को दूर करने तथा प्रतिपुष्टि प्रदान करने के तंत्र के रूप में व्यापक तथा सतत रूप से इसका उपयोग शिक्षक द्वारा किया जाना चाहिए।

***प्रबन्धन दक्षताएँ*** (Management Competencies): प्रबन्धन सबसे महत्त्वपूर्ण योग्यताओं में से एक है लेकिन इसकी सबसे ज्यादा उपेक्षा की जाती है। स्कूली शिक्षा के अंग के रूप में शैक्षणिक प्रबन्धन की योग्यताओं के प्रति उदासीनता से यह स्पष्ट है कि स्कूली शिक्षा और स्कूली नवोन्मेषों की गुणवत्ता का सच क्या है? कई देशों में कक्षा प्रबन्धन को एक महत्त्वपूर्ण चुनौती के रूप में देखा जाने लगा है। कक्षा प्रबन्धन तथा कक्षा के बाहर की गतिविधियों के प्रबन्धन में दक्षता शिक्षक के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है। कक्षा में अध्यापन, स्कूल प्रबन्धन, परिसर संस्कृति के निर्माण और व्यक्तिगत व संस्थागत स्तर पर मानव सम्बन्धों का प्रबन्धन करने के लिए प्रबन्धन की विभिन्न शैली और कुशलताओं को सीखना गुणवत्तायुक्त शिक्षा हेतु अपेक्षित है।

***अभिभावकों के साथ कार्य करने सम्बन्धी दक्षताएँ*** (Competencies related to parental contact and co-operation) : इस बात को शाश्वत रूप से स्वीकार किया जाता है कि बच्चे के शिक्षण का कार्य उसके घर से ही शुरू हो जाता है

और उसके अभिभावक ही उसके पहले अध्यापक होते हैं। बच्चा जब घर से विद्यालय जाता है तो उसके लिए नये वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना एक चुनौती होता है। कई बार घर की परिस्थितियाँ बच्चे के स्कूल की उपलब्धियों को प्रभावित करती हैं। ऐसी स्थिति में अभिभावक के साथ सम्पर्क तथा उसके सहयोग से बच्चे के स्वस्थ तथा समरस विकास की रणनीति बनाना तथा उसे लागू करना शिक्षक का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है। अभिभावकों की अपेक्षाओं को जानना तथा उसके अनुरूप शैक्षिक गतिविधियों का संचालन करना आवश्यकतानुसार अभिभावकों से सहयोग लेने की दक्षता से शैक्षिक समस्याओं के समाधान तथा उद्देश्यों की प्राप्ति का मार्ग सुगम हो जाता है।

***समुदाय सम्पर्क तथा सहयोग सम्बन्धी दक्षताएँ*** (Competencies related to Community Contact and Co-operation) : आज शिक्षा की बड़ी विडम्बना यह है कि वह अपने परिवेश से विमुख है। शिक्षालय जिस समाज में स्थित है, उस समाज के साथ प्राय: सहयोग व समन्वय का अभाव दिखायी देता है। शिक्षालयों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सामुदायिक गतिविधियों के केन्द्र के रूप में कार्य करें। समुदाय की परम्पराओं, मूल्यों, लोकसाहित्य, उत्सवों आदि को जानना तथा उसके संरक्षण एवं सम्वर्द्धन हेतु प्रयास करना शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है। शिक्षालयों का यह दायित्व है कि समाज के प्रश्नों का उत्तर वहाँ से निकले। वहीं दूसरी ओर शिक्षालयों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समाज को आगे आना चाहिए और समग्र स्कूली शिक्षा के सुधार हेतु सामुदायिक संसाधनों का उपयोग सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

**प्रदर्शन के पाँच क्षेत्र**

शिक्षक जो कहता है वह महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि छात्र के लिए वह अधिक महत्त्वपूर्ण है जो शिक्षक करता है। अत: शिक्षक का करणीय पक्ष छात्र के लिए विशेष रूप से प्रेरणादायी होता है। यहाँ पाँच ऐसे प्रदर्शन के क्षेत्रों की चर्चा उल्लेखनीय है, जिसके द्वारा शिक्षक का शिक्षकीय जीवन छात्रों के साथ ही साथ देश और समाज के लिए उदाहरण बन सकता है।

***कक्षा के भीतर प्रदर्शन*** (Performance in Classroom): शिक्षक कक्षा का नायक होता है। कक्षा की सम्पूर्ण गतिविधियाँ शिक्षक द्वारा निर्देशित तथा नियंत्रित होती हैं। छात्र-केन्द्रित शिक्षा भी शिक्षक की योजना से ही संचालित होती है। शिक्षक छात्र के केवल मस्तिष्क को ही नहीं प्रभावित करता है अपने व्यवहार से उसके हृदय को भी प्रभावित करता है। इसी दृष्टि से शिक्षक का कक्षागत व्यवहार केवल छात्र के लिए ही नहीं वरन् पूरे राष्ट्र के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए कहा जाता है कि शिक्षक का कार्य एक राष्ट्रीय कार्य है। प्रो. जे.एस.

राजपूत कहते हैं कि शिक्षक कक्षा में यदि ५ मिनट विलम्ब से पहुँचता है, तो एक सामान्य घटना मानकर इसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए क्योंकि उसकी कक्षा में बैठे ५० छात्रों, जो कि भारत के भाग्य के निर्माता हैं (कोठारी आयोग १९६४-६६), का ५ मिनट बर्बाद हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत के भाग्य से उसने २५० मिनट चुरा लिया। शिक्षक के कक्षागत व्यवहार को इस दृष्टि से समझना होगा क्योंकि महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की स्थापना के पीछे हमारे संस्थापकों की मूल दृष्टि यही है। इसी को ध्यान में रखकर हमें कक्षा में अपने प्रत्येक व्यवहार का प्रदर्शन करना चाहिए क्योंकि हमारा प्रत्येक व्यवहार राष्ट्र जीवन को समृद्ध करेगा।

***विद्यालय स्तर का प्रदर्शन*** (School Level Performance): शिक्षक से यह अपेक्षा रहती है कि वह विकास के जितने आयाम हो सकते हैं, उन सभी आयामों पर छात्रों को विकसित करे। इसके लिए कक्षा के बाहर विद्यालय परिसर की गतिविधियाँ महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। शिक्षक से छात्रों में स्वच्छता, अनुशासन, नेतृत्व क्षमता के साथ ही साथ विभिन्न शैक्षिक, सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों के विकास की अपेक्षा की जाती है। इन सारी अपेक्षाओं को पूरा करना सामान्य बात नहीं है। यह बहुत ही चुनौतीपूर्ण कार्य है। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् का उद्देश्य संस्कृतनिष्ठ राष्ट्रभक्त नागरिक तैयार करना है। ऐसे युवा तैयार करने हेतु विद्यालय स्तर पर ऐसी गतिविधियों का नियोजन करना होगा जिससे छात्रों का सर्वसार्विक पटल पर तो विकास हो ही साथ ही साथ देश, समाज व राष्ट्र के लिए कार्य करने की प्रेरणा भी जागृत हो। संस्थापक सप्ताह समारोह के साथ ही साथ वर्षपर्यन्त विभिन्न प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन हमारी संस्थाओं में होता है। इन कार्यक्रमों की गुणवत्ता वृद्धि हेतु शिक्षक के अन्दर रचनात्मक दृष्टि के साथ ही साथ नवोन्मेष की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए। इसके लिए शिक्षक को छात्रों को पढ़ाने के बजाय उन्हें पढ़ना होगा। उनकी क्षमताओं और रुचियों के अनुसार विकास के अवसर सृजित करने होंगे। अत: कक्षा के बाहर परिसर की प्रत्येक गतिविधि को जीवन्त बनाने हेतु स्वयं को कक्षा तक सीमित न रखकर उसके बाहर भी उतना ही सक्रिय तथा समर्पित होना होगा।

***विद्यालय के बाहर का प्रदर्शन*** (Performance in Out of School Activities): विद्यालय के बाहर अन्य विद्यालयों में आयोजित होने वाले कार्यक्रमों के सन्दर्भ में जानकारी रखना, छात्रों को प्रतिभाग हेतु प्रेरित करना तथा उत्कृष्ट प्रदर्शन हेतु उन्हें तैयार करना भी शिक्षक का दायित्व होता है। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के माध्यम से छात्र अपनी प्रतिभा का विकास सतत करता रहे इसकी चिन्ता शिक्षक को करनी चाहिए। इस हेतु महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की विविध प्रतियोगिताओं में

उसका गुणात्मक प्रतिभाग बढ़े, इस दृष्टि से अपनी भूमिका को प्रदर्शित करना साथ ही साथ परिषद् से बाहर जनपद विश्वविद्यालय, राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर संस्था का प्रतिभाग तथा प्रदर्शन बढ़े, इसके लिए शिक्षक को न केवल अभिप्रेरक का कार्य बल्कि अपनी संस्था के प्रभाव विस्तार हेतु इसे एक महत्त्वपूर्ण आयाम मानकर प्रदर्शन करना चाहिए। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् का शिक्षक अपनी संस्था में अपने कार्य व व्यवहार से मानक स्थापित करे साथ ही साथ अन्य संस्थाओं के लिए मानक बने, ऐसी अपेक्षा रहती है। इस अपेक्षा पर खरा उतरने हेतु हमको परिसर से बाहर रक्तदान, साक्षरता अभियान, वृक्षारोपण आदि कार्यक्रमों के माध्यम से सतत समाज व राष्ट्र जागरण का कार्य करना चाहिए।

***अभिभावकों से सम्पर्क सम्बन्धी प्रदर्शन*** (Performance related to Parental Contact): सामान्य तौर पर अभिभावकों व अध्यापकों का सम्पर्क बच्चे के स्कूल में प्रवेश के समय और वार्षिक परिणामों की घोषणा के समय ही हो पाता है। शिक्षण संस्थानों के ठीक प्रकार से संचालन के लिए शिक्षक-अभिभावक संवाद नियमित अन्तराल पर पर्याप्त समय के लिए होते रहने चाहिए। शिक्षक को अभिभावक के साथ सतत संवाद के माध्यम से पाठ्यक्रम से लेकर पाठ्येतर गतिविधियों के बारे में उनके अभिमत प्राप्त करते रहना चाहिए। शिक्षार्थियों की उपलब्धियों को अभिभावकों के समक्ष प्रस्तुत कर अभिभावकों व विद्यालय के बीच गतिशील सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अभिभावकों के साथ अध्यापक का व्यक्तिगत सम्बन्ध शिक्षालय को अपनी कमजोरियों को दूर करने में मार्गदर्शन का कार्य करता है। शिक्षकों को चाहिए कि वे पूरी निष्ठा, धैर्य व ऊर्जा के साथ अभिभावक के साथ सम्पर्क व सहयोग के कार्य को सम्पादित करें।

***समुदाय से सम्पर्क व सहयोग सम्बन्धी प्रदर्शन*** (Performance related to Community Contact and Co-operation): समुदाय के साथ शिक्षालय के सम्पर्क और सहयोग का कार्य अब तक प्रायः उपेक्षित ही रहा है। यद्यपि कि हम सब इस बात को स्वीकार करते हैं कि शिक्षा की पहुँच प्रत्येक व्यक्ति तक उसी अवस्था में हो सकती है जब समुदाय व ग्रामीण लोग अपनी जिम्मेदारी को समझें जिससे कि हर बच्चे को गुणवत्तायुक्त शिक्षा उपलब्ध करायी जा सके। हमारी संस्थाएँ विभिन्न स्तरों पर सामुदायिक विकास के कार्यों में संलग्न हैं परन्तु इस दिशा में शिक्षकों से और प्रभावी भूमिका की अपेक्षा की जाती है। शिक्षालय और समाज के बीच आत्मीयभाव के विकास हेतु शिक्षक सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है। शिक्षक के प्रयत्न और प्रभाव से यह आत्मीय भाव इस स्तर तक पहुँच सकता है कि शिक्षालय समुदाय के समग्र विकास के वाहक बनें तथा समुदाय अपने संसाधनों का नियोजन शिक्षालय के हित में करें। एक संवेदनशील व बेहतर

प्रदर्शन करने वाला शिक्षक ही अपने इस सामाजिक दायित्व के साथ न्याय कर सकता है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की स्थापना जिन उद्देश्यों को लेकर हुई है उन उद्देश्यों के साथ स्वयं को जोड़ना, उनकी सिद्धि हेतु योग्यता व कुशलता प्राप्त करना तथा तदनुरूप कक्षा के अन्दर व बाहर व्यवहार करना हम सभी का दायित्व बनता है। संस्था में कार्य करते हुए प्राचार्य, शिक्षक, कर्मचारी व छात्र शैक्षिक परिवार के आदर्श के साथ जब स्वयं को संस्था की पहचान के साथ जोड़ लेते हैं तभी संस्था अपने अभीष्ट को प्राप्त कर पाते है। 'यह संस्था हमारी है और मैं इस संस्था के लिए हूँ' इस भाव के साथ कार्य करने का संकल्प विकसित हो, यही संदर्भित विषय का निहितार्थ है।

## संदर्भ :

१. धर्मपाल, रमणीय वृक्ष, 18वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा, पुनरूत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद 2007।

२. सिंह, भ.प्र. (सं.), दिग्विजयनाथ स्मृति ग्रन्थ, महंत दिग्विजयनाथ ट्रस्ट, गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर 1972।

3. मुखोपाध्याय, एम. क्वालिटी एश्योरेंस इन टीचर एजुकेशन (आर्टिकल पब्लिश्ड इन द बुक ऑफ) सिद्दीकी, एम.ए., शर्मा, ए.के., अरोरा, जी. पल (2009) टीचर एजुकेशन रिफ्लेक्शन्स टुअर्डस पालिसी फार्मुलेशन, एन.सी.टी.ई., नई दिल्ली, 2009।

4. गुप्त, स.व. राव, प्र. (सं.), राष्ट्रीयता के अनन्य साधक महंत अवेद्यनाथ खण्ड I, प्रभात प्रकाशन, नइ दिल्ली, 2012।

5. राष्ट्रीय शिक्षा नीति, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली 1986। लाल, एस, भारत में अंग्रेजी राज, पब्लिकेशन डिवीजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1982।

6. विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग, रिपोर्ट आन यूनिवर्सिटी एजुकेशन, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली 1948–49।

7. शिक्षा आयोग, एजुकेशन एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली 1964–66।

# महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद्
# कार्य एवं कार्यपद्धति

**डॉ. प्रदीप कुमार राव***

*''हमारा लक्ष्य ऊँचा और उदात्त है, कार्यपद्धति एकमेव और अद्भुत है, निष्ठा असंदिग्ध है, साधना में सातत्य है, समर्पण शर्तहीन है, किन्तु मार्ग कंटकाकीर्ण है। इस पथ पर चलते-चलते कभी-कभी पथ लम्बा और पाथेय अपथ्य लगने लगता है। ऐसा ''किसी एक'' के साथ नहीं ''किसी एक'' के अतिरिक्त अधिकांश लोगों के साथ होता है। जिस ''किसी एक'' के साथ ऐसा नहीं होता वही साधना के तपोवन का दीप होता है। जिस 'किसी एक' को आशा-निराशा, सफलता-असफलता और साधक-बाधक परिस्थितियाँ उसके ध्येय पथ से विचलित नहीं कर पाती, तपते मार्ग की हल्की छाया को मंजिल मानकर जो संतुष्ट नहीं होता, उस वीरव्रती की कालजयी साधना और सनातन सोच ही ध्येय पथ के पथिकों की शक्ति होती है। जितना बड़ा लक्ष्य, उतनी ही बड़ी प्रेरणा और उतना ही लम्बा पथ। छोटे रास्ते से बड़ा काम नहीं हो सकता। परिवर्तन बातों से नहीं आता, परिवर्तन की पहली शर्त है भविष्य के प्रति पूर्ण आस्था और अपने कर्म पर भरोसा। निर्माण निहोरा देने से नहीं होता, निर्माण का प्रथम बिन्दु है साध्य का स्पष्ट ज्ञान, साधन, विधा और मार्ग पर विश्वास। वर्तमान को अतीत की दृष्टि से नहीं, अतीत को आधुनिक सन्दर्भ प्रदान करने से ही भविष्य युगानुकूल वर्तमान बनकर धरती पर उतरता है।''*

***संकेतरेखा***

युगपुरुष गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज ने १९३२ ईस्वी में ब्रिटिश शासन में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की स्थापना की। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की स्थापना का उनका उद्देश्य स्पष्ट था। वे भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा प्रारम्भ की गई शिक्षा व्यवस्था के प्रबल विरोधी थे। महन्त जी महाराज की स्पष्ट धारणा थी कि शिक्षा राष्ट्रीय विकास (सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक) का एक प्रबल साधन है। अतः राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जो कि भारतवासियों में देश की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर आधारित एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास कर सके। महन्त जी ने

---

*प्राचार्य, महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर

ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित एवं विकसित की जा रही शिक्षा पद्धति का मूल्यांकन करते हुए कहा था कि वर्तमान भारतीय शिक्षा पद्धति का वास्तविक दोष यह है कि वह लार्ड टी.वी. मैकाले के २ फरवरी १८३५ ई. के कुख्यात मिनट पर आधारित है, जिसका मुख्य उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से भारतीयों का एक ऐसा वर्ग बनाने का था जो ब्रिटिश शासन तथा करोड़ों भारतीयों के बीच मात्र द्विभाषिए का काम करे तथा वे रक्त एवं रंग में तो भारतीय हों, किन्तु रूचियों, विचारों, नैतिकता तथा बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज हों। महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज द्वारा यह भी रेखांकित किया गया कि ब्रिटिश शासन की शिक्षा नीति का एक और प्रमुख उद्देश्य प्रत्येक भारतीय वस्तु को निकृष्ट ठहराना तथा भारतीयों में अपनी संस्कृति एवं अपनी परम्परा के प्रति हीनभाव पैदा करना था।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति के अनुरूप आजाद भारत पुनर्प्रतिष्ठित एवं पुनर्निर्मित किया जा सके, इस उद्देश्य से भारत केन्द्रित शिक्षा नीति एवं तद्नुरूप प्रतिमान खड़ा करने का कार्य बीसवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में ही प्रारम्भ हो गया था। अनेक भारतीय मनीषियों ने इस दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८८६, दयानन्द एंग्लोवैदिक संस्थान), महामना मदन मोहन मालवीय (१९१६, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), रविन्द्र नाथ टैगोर (१९२१, विश्वभारती विश्वविद्यालय), और महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज (१९३२, महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद) एवं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (१९५० ई., सरस्वती शिशु मन्दिर) ने अपने-अपने प्रयत्न से भारतीय शिक्षा नीति की वैचारिकी के साथ-साथ उसका प्रतिमान खड़ा किया। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की स्थापना इसी प्रयत्न का परिणाम था। भारत के आजाद होते-होते महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् द्वारा प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक के शिक्षा संस्थान (महाराणा प्रताप इण्टर कालेज, महाराणा प्रताप महाविद्यालय एवं महाराणा प्रताप महिला महाविद्यालय) प्रतिष्ठित किए जा चुके थे। महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज के प्रयत्न से १९५० ई. में गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर का शिलान्यास भी इसी प्रयत्न की कड़ी का एक हिस्सा था।

महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज द्वारा प्रतिपादित वैचारिक अधिष्ठान पर महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के अन्तर्गत शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना एवं उनका विकास उनके पट्टशिष्य गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने अनवरत जारी रखा। वर्तमान गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त योगी आदित्यनाथ जी

महाराज (माननीय मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश) द्वारा महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के मूल उद्देश्यों के अन्तर्गत अपनी शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं को युगानुकूल विकसित करने के भगीरथ प्रयत्न के हम सभी साक्षी हैं। वे निरन्तर इस प्रयत्न में लगे हुए हैं कि महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाएँ सरकार एवं समाज के लिए मानक बनें। वे संस्थाध्यक्षों की सभी बैठकों में यह कहते रहते हैं कि महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के मूल उद्देश्य की पूर्ति में सतत सक्रिय रहें। हमारी संस्थाएं लोक-कल्याण के पवित्र उद्देश्य की भी पूर्ति करें। संस्थाओं की पूरी कार्य-प्रणाली पूर्णतः पारदर्शी एवं लोक-कल्याण केन्द्रित होनी चाहिए। संस्थाएं इस बात का मूल्यांकन अवश्य करें कि भारत की वर्तमान एवं भावी पीढ़ी का व्यक्तित्व गढ़ने में हम कितना सफल हैं।

महन्त जी महाराज के प्रयत्नों से महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाएं अनवरत विकास-पथ पर अग्रसर हैं तथापि उनका यह निर्देश है कि हम चाहे जितना अच्छा बन चुके हो, और अच्छा बनने की गुन्जाइश सदा बनी रहती है। हमें नित-नूतन बने रहने और जहाँ खड़े हैं वहाँ से एक कदम आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज द्वारा निरन्तर जो निर्देश प्राप्त होते रहे हैं, उनका सार संक्षेप यहाँ दुहराया जाना उचित होगा -

१. श्री गोरक्षपीठ द्वारा स्थापित महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् द्वारा संचालित संस्थाओं की विशिष्ट पहचान होनी ही चाहिए।

२. संस्थाध्यक्ष/प्राचार्य/निदेशक/प्रभारी स्वयं प्रतिमान बनें।

३. संस्था के सभी पदाधिकारी/सदस्य की प्राथमिकता में संस्था भी होनी चाहिए। जैसे आप हम अपने बारे में सोचते रहते हैं, अपनी बेहतरी के लिए चिन्तित रहते हैं, यही सोच-चिन्ता संस्था के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। संस्था हम सबके जीवन का हिस्सा बने।

४. संस्था प्रमुखों की कार्यप्रणाली पारदर्शी एवं निष्पक्ष होनी चाहिए।

५. अनुशासन किसी भी शिक्षा-चिकित्सा संस्था की आत्मा है। यह उपर से नीचे की ओर लागू होता है। स्वअनुशासित संस्थाध्यक्ष ही अपने शिक्षक/चिकित्सक/कर्मचारी को अनुशासन का पाठ पढ़ा सकता है। स्वअनुशासित शिक्षक अपने विद्यार्थियों को तथा चिकित्सक अपने कर्मचारियों, मरीजों के सहयोगियों को अनुशासन का पाठ पढ़ा सकता है। अतः स्वअनुशासित परिसर संस्कृति का

संस्था में विकास करें।

६. समय-पालन स्वअनुशासन की प्रथम शर्त है। अतः संस्था में समय से उपस्थिति एवं पूरे समय रहकर कार्य करना धर्म भी है और अनुशासन भी।

७. सामूहिक अर्थात् टीम भावना से कार्य करने की पद्धति सभी संस्थाएं विकसित करें।

८. प्रत्येक नए सत्र के प्रारम्भ के पूर्व विस्तृत वार्षिक योजना एवं शैक्षिक पंचाग बनाएँ तथा इसे शत-प्रतिशत लागू करें।

९. महापुरुषों की जयन्तियों पर अवकाश न कर संस्था में कार्यक्रम किए जाएँ, सम्बन्धित महापुरुष के प्रेरणास्पद जीवन से विद्यार्थियों को परिचित कराया जाए।

१०. पर्व-त्योहार के अवकाश की पूर्व संध्या पर पर्व-त्योहार का महत्त्व एवं उसकी उपादेयता से विद्यार्थियों को प्रेरित किया जाना चाहिए।

११. पुस्तकालय एवं प्रयोगशाला को अत्याधुनिक बनाते रहना चाहिए।

१२. पठन-पाठन में अत्याधुनिक तकनीकों एवं उपकरणों का उपयोग करें।

१३. पठन-पाठन के नित-नूतन मौलिक प्रयत्न करते रहना चाहिए।

१४. विद्यार्थियों का समग्र व्यक्तित्व विकास शिक्षण संस्था का उद्देश्य है। अतः इस दृष्टि से संस्था की परिसर संस्कृति विकसित की जानी चाहिए।

१५. स्वच्छता उपासना की प्रथम शर्त है। शिक्षा-चिकित्सा संस्थान सेवा के केन्द्र हैं। उपासना के अधिष्ठान है। सेवाभावी तपस्वियों का आश्रम है। अतः संस्था अपने घर/आश्रम/मन्दिर जैसा ही साफ-सुथरी रहनी चाहिए। पेड़-पौधे संस्था को प्राण-वायु देते हैं। उनकी उपासना भी संस्था में दिखनी चाहिए। हरा-भरा एवं साफ-सुथरा परिसर ही उत्कृष्ट कार्य का परिवेश दे सकता है।

१६. शिक्षण-प्रशिक्षण चिकित्सा संस्था के आस-पास की बस्तियाँ/मुहल्ले/गाँव में स्वच्छता, स्वास्थ्य, शिक्षा सहित विविध राष्ट्रीय-सामाजिक जागरुकता हमारी सम्बन्धित संस्था की जिम्मेदारी है। शिक्षक-चिकित्सक-विद्यार्थी सेवा एवं सामाजिक कार्य के सहभागी बनने चाहिए।

१७. प्रार्थना-सभा (राष्ट्रगान, राष्ट्रगीत, सरस्वती वन्दना, ईशवन्दना इत्यादि) शिक्षण-प्रशिक्षण संस्था का प्रकाशदीप है। पूरी श्रद्धा एवं समर्पण भाव से

प्रतिदिन की प्रार्थना–सभा सम्पन्न की जानी चाहिए।

१८. राष्ट्रप्रेम, अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम एवं गौरव का भाव, अपने समाज–अपनी परम्परा के प्रति श्रद्धाभाव, संस्कार, नैतिकता जैसे जीवन मूल्यों का पाठ संस्थाओं में विविध तौर–तरीकों से पढ़ाया ही जाना चाहिए।

१९. ग्रीष्मावकाश में संस्थाध्यक्ष अगले सत्र की तैयारी करें। मरम्मत एवं निर्माण, इसी बीच पूरे किए जाने चाहिए।

२०. सत्रान्त से पूर्व संस्थाध्यक्ष शिक्षकों–कर्मचारियों के साथ बैठकर बीते सत्र की समीक्षा करें। इसका मूल्यांकन करें कि सत्रारम्भ में बनायी गयी वार्षिक योजना पूरी हुयी या कहीं कमी रह गयी, कारण एवं निवारण तय कर अगले सत्र की वार्षिक योजना में उसका समायोजन करें।

२१. संस्था के पदाधिकारी तथा सदस्य प्रत्येक अगले दिन, बीते दिन से कुछ नया करें, कुछ नया सीखें अर्थात् संस्था प्रत्येक अगले दिन पिछले दिन की अपेक्षा कुछ नया अर्जित करे।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण निर्देशों के आलोक में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाओं का संचालन होता है। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाओं में कार्य करने वाले हम सभी महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् का उद्देश्य, तद्नुरूप विकसित कार्यपद्धति एवं अपने संस्थापकों–मार्गदर्शकों की मनसा–वाचा–कर्मणा से परिचित हैं। हमें क्या करना है?, कैसे करना है? क्यों करना है? यह हम जानते हैं और हमें जानना भी चाहिए। हम जानते हैं कि महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाएँ राष्ट्र निर्माण, लोक कल्याण और व्यक्ति निर्माण के उद्देश्य से स्थापित हैं। इसी उद्देश्य से संचालित की जाती हैं। इस प्रकार स्वभाविक है कि हमारी संस्थाएँ विशिष्ट हैं, हमारा उद्देश्य विशिष्ट है। हमारी कार्यपद्धति भी विशिष्ट है।

हमारे संस्थापक गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज एवं गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज और वर्तमान संचालक गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे अथवा नहीं है कि जैसा समाज होगा वैसी ही संस्था होगी, वैसे ही शिक्षक–चिकित्सक होंगे, वैसे ही कर्मचारी होंगे। किन्तु उनका मानना है कि हम इस सामान्यीकरण के लिए नहीं बने हैं। हम प्रतिमान खड़ा करने, प्रकाश स्तम्भ बनने एवं धारा के प्रतिकूल चलने के लिए बने हैं। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के नीति–नियन्ता यह

भी मानते हैं कि वर्तमान परिवेश में शिक्षण-प्रशिक्षण एवं चिकित्सा संस्थान को आदर्श रूप में संचालित करना बहुत कठिन है, किन्तु वे यह भी मानते हैं कि यह असम्भव नहीं। यदि वे आदर्श संस्था का संचालन असम्भव मानते तो शिक्षण-प्रशिक्षण-चिकित्सा संस्थाओं को खोलते ही नहीं और यदि कुछ संस्थाएँ स्थापित ही हो गयी तो वर्तमान में उसश्रृंखला को नहीं बढ़ाते। जबकि हम सभी जानते हैं कि प्रतिवर्ष कोई न कोई नयी संस्था की स्थापना हो रही है अथवा नया पाठ्यक्रम प्रारम्भ होता है।

वर्तमान युग में अंधेरे को धिक्कारने की बजाय प्रकाश का एक दीपक जलाने की परम्परा के वाहक श्री गोरक्षपीठ के मनीषियों की छत्र-छाया में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हम सभी शिक्षक-चिकित्सक-कर्मचारी अन्यों से भिन्न ऐसे तपस्वी हैं जिनके समक्ष अपने-अपने क्षेत्र में प्रतिमान बने रहने की चुनौती है। प्रतिमान खड़ा करने की चुनौती है। हमारा लक्ष्य ऊँचा और उदात्त है। हमारी भूमिका साधना के तपोवन में दीप के समान है। हम ऐसे पथ के पथिक हैं जिस पथ पर साधना में सातत्य चाहिए, समर्पण शर्तहीन होनी चाहिए, विचार सनातन के आलोक में युगानुकूल होना चाहिए। आशा-निराशा एवं सफलता-असफलता हमें अपने ध्येय पथ से विचलित न कर सके ऐसा हमारा दृढ़व्रती मानस चाहिए। स्पष्ट है कि महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाओं के हम सभी तपस्वियों का मार्ग कठिन और कंटकाकीर्ण है। हमारा कार्य कठिन है, धारा के प्रतिकूल खड़ा होने वाला है, शिक्षा-चिकित्सा के क्षेत्र में सेवा-भाव के बल पर प्रतिमान निर्मित करने वाला है, अन्य संस्थाओं के लिए प्रकाश दीप बनने वाला है, राष्ट्र-निर्माण, लोक कल्याण और व्यक्ति निर्माण में हमारी महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्धारित करने वाला है। इसीलिए कठिन होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण और बड़ा एवं ईश्वरीय कार्य है। स्वाभाविक है कि यह कार्य तपस्या से होगा, समर्पण से होगा, त्याग से होगा, अपने को गलाकर होगा, अपने को खपाकर होगा, यदि इतना नहीं तो भी सेवाभाव से परिश्रम के बल पर होगा।

महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाओं में कार्य करने वाले हम सभी को यह बात समझनी होगी कि हम सामान्य लोग नहीं है, हम बड़े भाग्यशाली हैं, कि ईश्वर ने हमें राष्ट्र-समाज की सेवा का अवसर प्रदान किया है, हम बड़े मन के लोग हैं, हम सेवाभावी तपस्वी हैं, हम नश्वर जीवन को सार्थक करने वाले लोग हैं, यदि नहीं तो भी ऐसा बनने के प्रयत्न करने वाले साधक हैं। हमें समझना होगा

कि हमारा पथ साधना का पथ है, सेवा का पथ है, राष्ट्र-पथ है, और अन्ततः देव पथ है।

भारत-माता को समर्पित इस देवपथ पर चलते समय इस बात का एहसास आवश्यक है कि हम समाज के अंग हैं। हममे से अधिकांश पारिवारिक लोग हैं। अतः परिवार एवं समाज के साथ सामंजस्य बनाए बिना हमारा लक्ष्य पूरा नहीं होगा। हम कुशलतापूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकते। अतः दूरगामी लक्ष्य पर नजर रखते हुए परिवार समाज के साथ मिलकर उनसे आचरण-व्यवहार-कार्य में एक-दो कदम आगे रहकर बढ़ते रहना होगा ताकि आदर्श और व्यवहार के बीच समन्वय के साथ-साथ औरों से थोड़ा-थोड़ा आगे रहते हुए अपने साधना पथ पर औरों को भी साथ लेकर बढ़ते रहें। उपर्युक्त भाव-विचार-चिन्तन से निर्मित मानस के मजबूत धरातल पर खड़ा होकर ही हम अपने लक्ष्यानुरूप कार्य एवं कार्यपद्धति का निर्धारण कर सकेंगे।

महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के उपर्युक्त वैचारिक अधिष्ठान के आलोक में हमारा अर्थात हमारी संस्था का **कार्य एवं कार्यपद्धति** स्वाभाविक क्रम में आकार लेने लगती है। शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं का उद्देश्य स्पष्ट है कि हमारा कार्य भारतीय ज्ञान-परम्परा से भावी वर्तमान पीढ़ी को दीक्षित करते हुए भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे राष्ट्रभक्त नागरिक तैयार करना तथा चिकित्सा एवं अन्य सेवा प्रकल्पों का उद्देश्य लोक-कल्याण के लिए मानवता की सेवा एवं प्रकृति के संरक्षण-संवर्धन में अपना योगदान सुनिश्चित करना तथा शिक्षा-चिकित्सा एवं सेवा के क्षेत्र में औरों को ऐसा करने की प्रेरणा देने का उदाहरण बनना। जिससे की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था भारतीय शिक्षा के आदर्श एवं उद्देश्य को पूर्ण करने तथा चिकित्सा संस्थान सेवा कार्य करने का वाहक बने।

हमें अपनी शिक्षण संस्थाओं को आदर्श स्वरूप में बनाए रखने एवं निरन्तर विकसित करने के अहर्निश प्रयत्न करते रहने होंगे। यह तभी सम्भव होगा जबकि हम निरन्तर विचारशील एवं क्रियाशील रहें। समग्रता के साथ स्वमूल्यांकन पद्धति का अनुसरण करें। कोई भी शिक्षण संस्था के आदर्श स्वरूप को बनाए रखने एवं तद्नुरूप विकसित करने के लिए संस्था के सभी घटकों की भूमिका स्पष्ट होनी ही चाहिए। सामान्यतः शिक्षण-प्रशिक्षण संस्था के महत्त्वपूर्ण छः घटक हैं-प्रबन्धतन्त्र, प्राचार्य अथवा संस्थाध्यक्ष, शिक्षक, कर्मचारी, छात्र एवं अभिभावक।

**प्रबन्ध-तन्त्र** संस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रबन्ध तन्त्र जैसा होगा संस्था वैसी ही होगी। संस्था का सैद्धान्तिक स्वरूप प्रबन्ध-तन्त्र ही निर्धारित करता है। प्रबन्ध-तन्त्र संस्था का नीति-नियामक होता है। उसके नेतृत्त्व एवं मार्गदर्शन में ही संस्था पलती-बढ़ती है। संस्था के संसाधन के विकास में प्रबन्ध तन्त्र की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संस्था के विकास, संसाधनों के यथोचित उपयोग, संस्थाध्यक्ष पर सकारात्मक नियन्त्रण, संस्थाध्यक्ष के माध्यम से संस्था में अनुशासन एवं स्वस्थ कार्य पद्धति के विकास में प्रबन्ध तन्त्र का जैसा योगदान होगा, संस्था का वैसा ही विकास होगा। वर्तमान समय में बड़ी संख्या में स्ववित्तपोपित संस्थाओं एवं अनुदानित संस्थाओं में भी स्ववित्तपोषित पाठ्यक्रमों के संचालन के कारण इनमें आर्थिक अनुशासन एवं वेतन निर्धारण में प्रबन्ध तंत्र का लगभग एकाधिकारी की भूमिका है। सौभाग्य से हम जिस प्रबन्ध-तन्त्र के साथ कार्य कर रहे हैं वह प्रबन्ध -तन्त्र अद्वितीय है। ऐसा प्रबन्ध तन्त्र जो लोक-कल्याण के लिए ही समर्पित है। हिन्दुत्व और राष्ट्रीयता को एकाकार रूप में प्रतिष्ठित करने वाले इस प्रबन्ध-तन्त्र के लिए शिक्षा-चिकित्सा संस्थान मात्र सेवा के माध्यम हैं। यह देश-दुनिया का ऐसा प्रबन्ध-तन्त्र है जो अपनी संस्थाओं का आध्यात्मिक-नैतिक-वैचारिक मार्गदर्शन अपने आचरण-व्यवहार से करता है। प्रबन्ध तंत्र के मुखिया श्री गोरक्षपीठ के पीठाधीश्वर का जीवन एवं उनकी जीवन-दृष्टि हमारी संस्थाओं को दिशा-निर्देश देने का प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह ऐसा प्रबन्ध तन्त्र है जो अपनी संस्थाओं को प्रतिवर्ष आर्थिक अनुदान देता है, उनसे आर्थिक लाभ की कल्पना को भी यहाँ जगह नहीं है। हम ऐसे प्रबन्ध-तन्त्र के साथ कार्य करते हैं जहाँ संस्था हित के आलोक में पारदर्शी ढंग से अपना वेतन स्वयं संस्था तय करती है। ऐसे प्रबन्ध-तन्त्र के साथ एवं उसकी संस्था में कार्य करने में यदि संस्था का आदर्श स्वरूप नहीं खड़ा हो पाता तो हम संस्थाध्यक्षों, शिक्षकों एवं कर्मचारियों को अपनी-अपनी भूमिका का स्वमूल्यांकन अवश्य करना चाहिए।

दूसरा महत्त्वपूर्ण घटक **संस्थाध्यक्ष** (प्राचार्य, प्रधानाचार्य, निदेशक, प्रभारी) है। प्रबन्ध तन्त्र के वैचारिक अधिप्ठान पर परिकल्पित संस्था को वास्तविक स्वरूप देने का कार्य संस्थाध्यक्ष का है। संस्थाध्यक्ष के प्रत्यक्ष नेतृत्व में ही संस्था की पूरी टीम कार्य करती है। संस्थाध्यक्ष अपनी संस्था के शिक्षक-कर्मचारी के साथ मिलकर ही संस्था को उत्कर्ष पर पहुँचा सकता है। किन्तु इसके लिए संस्थाध्यक्ष को स्वयं प्रामाणिक बनना होगा। संस्थाध्यक्ष का स्वयं का जीवन पारदर्शी होना चाहिए।

सद्चरित्र, ईमानदार एवं परिश्रमी संस्थाध्यक्ष ही शिक्षकों-कर्मचारियों को प्रेरणा दे सकता है। संस्थाध्यक्ष की दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिए। संस्थापकों एवं संस्था के उद्देश्य की ठीक-ठीक समझ एवं उसे प्राप्त करने की दृढ़ इच्छाशक्ति वाला संस्थाध्यक्ष अपनी संस्था में वास्तविक कार्य पद्धति लागू कर पाएगा। एक बात जो हम सभी जानते हैं कि शिक्षकों-कर्मचारियों-विद्यार्थियों से जिस आचरण एवं व्यवहार की संस्थाध्यक्ष अपेक्षा करे अथवा उनके व्यक्तित्व में आचरण एवं व्यवहार का विकास करना चाहे उसे सर्वप्रथम संस्थाध्यक्ष को स्वयं पर लागू करना होगा। इन्हीं बातों को पूज्य महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज संस्थाध्यक्षों की लगभग सभी बैठकों में कहते रहे हैं। यहाँ मै उन्हीं बातों को मात्र दुहरा रहा हूँ। पूज्य महन्त जी महाराज की स्पष्ट अवधारणा है कि संस्था और संस्थाध्यक्ष पूरक होते हैं। अतः जैसा संस्थाध्यक्ष होगा वैसी ही संस्था होगी। इनमें से किसी एक को देखकर दूसरे को जाना जा सकता है।

**शिक्षक** शिक्षण-प्रशिक्षण संस्था का तीसरा महत्वपूर्ण घटक है। शिक्षक के सम्बन्ध में  पूर्व के व्याख्यान 'आदर्श शिक्षक' एवं ''हम और हमारी संस्था'' में विस्तार से बहुत ही स्पष्ट ढंग से कहा जा चुका है। तथापि कुछ उन महत्वपूर्ण अंशों को जिन पर अपने संस्थापकों एवं पूज्य महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज का अत्यधिक बल रहता है मैं पुनः दुहरा रहा हूँ। प्रबन्ध-तन्त्र एवं संस्थाध्यक्ष संस्था के वाह्य स्वरूप को आकार देते हैं। उनमें प्राण शिक्षक फूंकता है। किन्तु वही शिक्षक संस्था को जीवन्त, मूल्यवान और उद्देश्यपरक उपयोगी बना सकता है जो संस्था को 'अपना' माने। प्रबन्ध-तन्त्र के निर्देशन में कार्य कर रहे संस्थाध्यक्ष के साथ सहयोगी, मित्र अथवा पारिवारिक सदस्य के रूप में समर्पित भाव से कार्य करे। अपने विषय-ज्ञान में वह अद्यतन रहे। कक्षाध्यापन के तौर-तरीकों में मौलिक प्रयोगों के द्वारा निरन्तर विकास करता रहे। पाठ्य सहायक सामग्रियों की स्वयं रचना करे और प्रयोगधर्मी हो। सामाजिक-राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समसामयिक विषयों पर निरन्तर चिन्तन करता रहे तथा उसके साथ अपने विषय को यथा सम्भव जोड़कर उसे वर्तमान एवं भविष्य में उपयोगी बनाने का निरन्तर प्रयत्न करता रहे।

विद्यार्थियों से अनवरत अनौपचारिक संवाद करता हुआ, उनसे व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करते हुए उनका सहयोग करने वाला शिक्षक स्वयं जैसा और अनेकशः स्वयं से भी बहुत अच्छा अपने विद्यार्थियों को बना सकता है। वही विद्यार्थी की मौलिक क्षमताओं का प्रस्फुटन कर अपने विद्यार्थियों को उत्कर्ष पर

पहुँचा सकता है। इस कार्य हेतु प्रतिवर्ष कुछ विद्यार्थियों पर विशेष प्रयोग शिक्षक और संस्था दोनों को विशिष्ट बनाते हैं। शिक्षक अपनी कक्षा को प्रतिमान तथा अपने को उदाहरण बनाएँ।

शिक्षण संस्था का चौथा घटक **कर्मचारी** है। सामान्यत: संस्थाओं की गुणवत्ता में कर्मचारियों की भूमिका नजरअंदाज कर दी जाती है जबकि कर्मचारी भी संस्था की कार्य-संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। कर्मचारियों का संस्था केन्द्रित चिन्तन एवं सोच संस्था की कार्य संस्कृति को विशिष्ट बनाता है। विद्यार्थीहित सर्वोपरि के मंत्र पर आधारित कर्मचारियों की कार्यपद्धति से संस्था की पहचान बनती है। कम समय में अधिक कार्य, समयबद्ध कार्य निष्पादन और पारदर्शी आय-व्यय पद्धति किसी भी संस्था के कर्मचारियों का व्यक्तित्व गढ़ता है। संस्था तभी सफल मानी जा सकती है जब उसके सभी सहभागियों एवं सहयोगियों के व्यक्तित्व निर्माण में संस्था की भूमिका हो।

मूलत: संस्था जिसके लिए है वह घटक है **विद्यार्थी** है। हम पठन-पाठन सहित विद्यार्थी के व्यक्तित्व निर्माण के तमाम प्रश्नों से यह कहकर छुटकारा पा लेते हैं कि विद्यार्थी पढ़ना नहीं चाहता, वह सीखना नहीं चाहता, वह अनुशासनहीन हो चुका है, वह किसी की सुनता नहीं है, इत्यादि। यद्यपि कि मेरा अनुभव इससे अलग है। जब मैं पढ़ता था तब भी मुझे विद्यार्थी दोषी नहीं दिखे और जब मैं १९९३ से ही पढ़ा रहा हूँ या २००५ ई. से महाविद्यालय में बतौर प्राचार्य कार्य कर रहा हूँ, मुझे विद्यार्थी दोषी नहीं दिखता। संस्था, संस्थाध्यक्ष, शिक्षक, कर्मचारी जैसे होते हैं उनका विद्यार्थी वैसा ही बनता है। संस्था की परिसर संस्कृति जैसी होगी, विद्यार्थी का आचरण व्यवहार वैसा ही होगा। विद्यार्थी संस्था का निरन्तर प्रवाहमान समूह है। प्रतिवर्ष विद्यार्थियों का एक समूह संस्था से अपनी पढ़ाई पूरी कर निकलता है और प्रतिवर्ष एक नया समूह संस्था में प्रवेश लेता है। प्रतिवर्ष नए समूह के आने के कारण उन्हें संस्था की परिसर संस्कृति में ढालने हेतु प्रतिवर्ष प्रयत्न करने होते हैं। किन्तु यदि हमारा प्रयत्न होता रहा तो हर वर्ष आने वाला नया विद्यार्थी समूह संस्था की परिसर संस्कृति का हिस्सा बन जाता है तथा इन प्रयत्नों से संस्था की परिसर संस्कृति भी निरन्तर प्रवाहमान तथा विकसित होती रहती है।

हमें निरन्तर यह प्रयत्न करना होगा कि विद्यालय का विद्यार्थी अपने को विद्यालय परिवार का सदस्य महसूस करने लगे। इस परिणाम हेतु हमें विद्यालय को परिवार की तरह विकसित करने होंगे। विद्यालय में ऐसे वातावरण का सृजन करना

होगा कि विद्यालय में परिवार संस्कृति का विकास हो सके। विद्यार्थियों की गुणवत्तापूर्ण पढ़ाई करानी होगी तथा उनकी रुचि के अनुसार अन्य विविध पाठ्येतर गतिविधियों की उन्हें सुविधा अथवा मंच प्रदान करने होंगे। विद्यार्थी के व्यक्तित्व निर्माण के नाना-विध प्रयत्नों के साथ संस्था के साथ उसका रागात्मक/अपनापन/पूरकता का सम्बन्ध विकसित करना होगा। उनमें अपने जैसा (संस्थाध्यक्ष-शिक्षक-कर्मचारी) स्व-अनुशासन की प्रवृत्ति विकसित करनी होगी। पढ़ाई सहित अन्यान्य विविध गतिविधियों के साथ-साथ उन्हें संस्कारित बनाने और उनमें श्रम के प्रति श्रद्धाभाव पैदा करने के प्रयत्न करते रहने होंगे। विद्यार्थी को संस्था के संचालन में भी यथासम्भव सहभागी बनाना होगा। हमारे निरन्तर प्रयत्नों से संस्था के साथ भावात्मक-रागात्मक ढंग से जुड़ा विद्यार्थी स्वयं संस्था के अनवरत विकास का सहयोगी एवं सहयात्री बन जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ संस्थाध्यक्ष, शिक्षक, कर्मचारी, स्वभूमिका का निर्धारण करने में समर्थ होते हैं वहीं विद्यार्थी को इस दृष्टि से हमें समर्थ बनाना होता है।

संस्था का अप्रत्यक्ष रूप से एक महत्वपूर्ण घटक **अभिभावक** है। विद्यार्थी २४ घंटे में लगभग १८ घंटे अभिभावक की देख-रेख एवं मार्गदर्शन में रहता है। अतः अभिभावक के साथ संस्था का सम्पर्क एवं संवाद विद्यार्थी को समझने एवं गढ़ने में प्रभावी भूमिका निभाता है। अभिभावक एवं संस्था के समन्वय से विद्यार्थी एवं संस्था दोनों के विकास को उद्देश्यपूर्ण दिशा मिलती है। हमारी राह आसान हो जाती है।

इस प्रकार संस्था के उपर्युक्त सभी घटक मिलकर संस्था का स्वरूप निर्धारित करते हैं तथापि सभी की भूमिका को संयोजित करने का कार्य संस्थाध्यक्ष का होता है। सभी की यथोचित भूमिका का उपयोग करते हुए श्रेष्ठ संस्था का स्वरूप विकसित करते रहना भी हमारा कार्य है जिससे कि हम अपने उद्देश्य के अनुरूप राष्ट्रभक्त, योग्य, सांस्कारित एवं कुशल नागरिक अथवा व्यक्ति पैदा कर सकें तथा भारत-माता की सेवा में अपने प्रयत्नों के पुष्प चढ़ा सकें।

श्रेष्ठ संस्था के स्वरूप को प्रतिष्ठापित करने के कार्य के दो भाग हैं-पहला संस्था का **भौतिक स्वरूप** अर्थात् संसाधन की उपलब्धता एवं दूसरा अपनी **मौलिक विशिष्ट परिसर संस्कृति** का निरन्तर विकास। पहला भाग प्रबन्ध-तन्त्र एवं शासन के सहयोग तथा अपने संस्थागत प्रयत्नों से आवश्यकतानुसार सुसज्जित भवन, कक्षाएँ, प्रयोगशाला, पुस्तकालय, वाचनालय का समुचित एवं सुव्यवस्थित

विकास करना संस्था के विकास की प्रथम शर्त है। यह विकास भी मात्र आर्थिक संसाधन से नहीं होगा। हमारी दृष्टि, हमारा चिंतन, हमारा मौलिक प्रयत्न इनमें भी दिखना चाहिए। ईंट-पत्थर की दीवालों से बने कक्ष में मात्र कुछ फर्निचर लगा देने से कक्षा नहीं बनती, कुछ प्रयोगात्मक पाठ्यक्रम की सामग्री रख देने से प्रयोगशाला नहीं बन जाती, कुछ पुस्तकें रख देने से पुस्तकालय और वाचनालय नहीं बन जाते। पठन-पाठन के कक्षों में हमारे पवित्र भाव का दर्शन होना चाहिए। कक्ष यथासम्भव अत्याधुनिक संसाधनों से युक्त सुव्यवस्थित होने चाहिए। प्रतिदिन उसकी सुबह-शाम पूजा घर की तरह साफ-सफाई होनी चाहिए। अध्ययन कक्ष एवं उसकी दीवालें मुखर होनी चाहिए। वह हमसे प्रतिदिन कुछ नया करने की प्रेरणा देने वाला होना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि अध्ययनकक्ष किसी महापुरुप के नाम पर हो, उस महापुरुष का प्रेरणादायी चित्र लगा होगा, दीवालों पर उस महापुरुष के जीवन के प्रेरणादायी प्रसंग हो। अध्ययनकक्ष में दीवाल पर कहीं विद्यार्थियों के द्वारा स्व-रचित चित्र, बोध -वाक्य, विचार की प्रस्तुति की व्यवस्था हो। ऐसा अध्ययनकक्ष हमें पठन-पाठन की श्रेष्ठतम् भाव भूमि के साथ-साथ प्रतिदिन-प्रतिक्षण कुछ न कुछ सिखाता रहेगा। प्रयोगशालाएं बाजार से क्रय की गयी प्रायोगिक सामग्रियों के अतिरिक्त शिक्षक-विद्यार्थियों के मौलिक प्रयत्नों एवं स्व-निर्मित प्रायोगिक सामानों से परिपूर्ण होंगी तभी वह विशिष्ट होंगी। प्रयोगशाला का कक्ष एवं उसकी दीवालें भी रचनात्मकता एवं शोध परकता का दर्शन कराती हुई अच्छी लगेंगी। पुस्तकालय प्राचीनतम से अद्यतन प्रकाशित पुस्तकों तथा पाण्डुलिपियों सहित अत्याधुनिक सुविधाओं से परिपूर्ण होना चाहिए। कम्प्यूटर, इण्टरनेट, आनलाइन पुस्तकालय की सभी आधुनिक परिकल्पनाओं की दिशा में यथासम्भव हमारी प्रगति पुस्तकालय में दिखनी ही चाहिए। वाचनालय को उपासना घर जैसा शान्ति पूर्ण आध्यात्मिक वातावरण का एहसास करता हुआ अध्ययन की सभी आवश्यक शर्तें पूरी करता हुआ बनाना होगा।

संस्था का कार्यालय संस्थागत कार्यों का एक अति महत्वपूर्ण केन्द्र है। हमें विशिष्ट कार्यालयी संस्कृति का निरन्तर विकास करते रहना होगा। कार्यालय में आय-व्यय का पूर्णतः पारदर्शी एवं बैंक की तरह प्रतिदिन का साफ-साफ आय-व्यय का विवरण पूर्ण होना चाहिए। कार्यालय के सभी कर्मचारियों को संस्था की अद्यतन सभी सूचनाओं से अवगत होना चाहिए। शिक्षकों-कर्मचारियों के वेतन सहित किसी प्रकार के कार्य को तत्काल निस्तारित कर उनके टेबल तक परिणाम पहुँचाने की कार्य संस्कृति विकसित करनी होगी, जिससे कि शिक्षक-कर्मचारी

अपने-अपने दायित्व के निर्वहन में अपना अधिक से अधिक समय दे सकें। विद्यार्थियों की मॉगी जाने वाली प्रत्येक सूचना उन्हें तत्काल प्राप्त कराना कार्यालय का धर्म है। किसी भी कार्य के लिए किसी भी विद्यार्थी/शिक्षक/कर्मचारी को कार्यालय में एक बार के बाद दूसरी बार आने की आवश्यकता न पड़े, अर्थात् पहली बार में ही उसका कार्य सम्पादित करने वाला कार्यालय ही अनुकरणीय होगा। हमें इस कार्य-संस्कृति का निरन्तर विकास करते रहना होगा।

संस्था के सम्पूर्ण परिसर का वाह्य वातावरण भी संस्था की कार्य-संसकृति को बताता है। वह परिसर संस्कृति का प्रथम दृष्टया भाष्यकार होता है। अतः सम्पूर्ण परिसर में भ्रमण मार्ग, लान, क्रीड़ा का मैदान सुव्यवस्थित, हरे भरे पेड़ पौधों से आच्छादित एवं साफ सुथरे होने चाहिए। परिसर में प्रवेश करते ही आगन्तुक के मन पर सकारात्मक प्रभाव डालने में संस्था के परिसर की सफलता सुव्यवस्थित परिसर का मानक है। भवन, अध्ययनकक्ष, प्रयोगशाला, पुस्तकालय, वाचनालय की तरह परिसर भी मुखर एवं सजीव होना चाहिए। हर आने-जाने वाले का आवभगत, उसके संस्था में आने के सद्-उद्देश्य की पूर्ति, संस्था से जाने समय तक उस पर सहयोगात्मक एवं संस्था हित में दृष्टि होनी ही चाहिए। संस्थाध्यक्ष, शिक्षक, कर्मचारी, विद्यार्थी के संस्था में उठने-बैठने, आने-जाने, बात-चीत करने इत्यादि में संस्था का संस्कार दिखना चाहिए। पूरा परिसर घर की तरह स्वच्छ रखकर ही हम संस्था में रचनात्मकता का चरमोत्कर्ष पा सकते हैं। पठन-पाठन से लेकर परिसर की समस्त गतिविधियों के साथ विकसित कार्य संस्कृति से किसी भी संस्था की परिसर-संस्कृति निर्मित होती है। अपनी-अपनी संस्थाओं की विशिष्ट परिसर संस्कृति का निर्माण कर ही हम महाराणा प्रताप शिक्षा परिपद् के उद्देश्य को पूरा करने की दिशा में बढ़ते रह सकते हैं। यही हमारा कार्य है।

महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाओं में कार्य की विशिष्टता के अनुसार ही **विशिष्ट कार्यपद्धति** का भी विकास हुआ है। हमारी कार्यपद्धति में सर्वाधिक प्रमुखता स्वयं के आचरण-व्यवहार को है। संस्थाध्यक्ष सहित सभी शिक्षकों-कर्मचारियों का स्वयं का जीवन, स्वयं की जीवन-दृष्टि, स्वयं का चिन्तन, स्वयं का मानस संस्था के उद्देश्य पूर्ति हेतु महत्त्वपूर्ण है। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की संस्थाओं के उद्देश्य का मूल लोक-कल्याण है। स्पष्ट है कि इस उद्देश्य को प्राप्त करने वाला मार्ग आध्यात्म से होकर ही निकलता है। **आध्यात्मिकता** हमारी कार्यपद्धति का आधार बिन्दु है। हमारे जीवन में सदाचार, नैतिकता, आस्था, श्रद्धा, विश्वास का

महत्त्वपूर्ण स्थान है। शरीर, मन, बुद्धि-विवेक, आत्मा, परमात्मा के अन्तर्सम्बन्धों की समझ एवं इस पर श्रद्धा-विश्वास से ही आध्यात्मिकता का भाव प्रस्फुटित होगा। बिना इन सद्गुणों के आध्यात्मिक मानस की रचना सम्भव नहीं। बिना आध्यात्मिक मानस के लोक-कल्याण हेतु समर्पित एवं तपस्वी जीवन-दृष्टि नहीं मिल सकती। स्वाभाविक है कि आध्यात्मिक-भाव के मजबूत धरातल पर खड़ा व्यक्ति ही हमारी संस्थाओं के भाव-धरातल को छू पाएगा।

कार्यपद्धति में आध्यात्मिकता के गर्भ से **अनामिकता** का जन्म होता है। अनामिकता हमारी कार्यपद्धति का दूसरा महत्त्वपूर्ण आयाम है। जब हम अपने को संस्था में समाहित कर देंगे, 'हम नहीं संस्था' का भाव जन्म ले लेगा, हमसे संस्था नहीं संस्था से हम हैं की दृष्टि विकसित होगी तो अनाम भाव का जन्म एवं विकास होता है। अनाम भाव से व्यक्तिगत अहंकार, आपसी पैर-खिचाऊँ प्रतिस्पर्धा, राग-द्वेष जैसी प्रवृत्तियों का शमन होता है। चेहरा दिखाने की अपेक्षा दायित्व पूर्ण करने की तत्परता होती है। पिसान-पोत भण्डारी बनने की प्रवृत्ति समाप्त होती है और तब सामूहिकता की प्रवृत्ति पनपती और विकसित होती है।

**सामूहिकता** हमारी कार्यपद्धति का तीसरा महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। कोई व्यक्ति चाहे जितना योग्य हो संस्था का उद्देश्यपूर्ण समग्र विकास अकेले नहीं कर सकता। संस्थागत उत्कर्ष हेतु सामूहिक प्रयत्न की कार्यपद्धति अपरिहार्य है। यद्यपि सामूहिकता के साथ संस्था में कार्यपद्धति का विकास संस्थाध्यक्ष की जवाबदेही होती है तथापि सामूहिक रूप से हम सभी यदि इस कार्यपद्धति का विकास करें तो रास्ता और सुगम, प्रभावपूर्ण और परिणामकारी होगा। सामूहिकता के भाव का विकास परिवार भाव से होता है। संस्था को परिवार के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। परिवार के सदस्यों की तरह ही संस्था के सदस्यों में प्रेम-भाव तथा सहयोग-भाव के आधार पर संस्था अपने विकास का चरमोत्कर्ष छू सकती है।

आध्यात्मिकता, अनामिकता एवं सामूहिकता के साथ **स्व-अनुशासन** की प्रवृत्ति का विकास स्वाभाविक है। स्वयं के लिए जीवन जीने का नियम बनाना एवं प्रतिदिन की दिनचर्या में उसे स्वयं प्रेरणा से लागू करना हमारी कार्यपद्धति का हिस्सा होना ही चाहिए। अपनी दिनचर्या में समय की प्रतिबद्धता कार्य की गुणवत्ता एवं नियत समय में निर्धारित कार्य पूर्ण करने के लिए आवश्यक है। समय-पालन से स्वयं का जीवन निखरता है। हर क्षण-हर पल हर कार्य के मूल्यांकन से कार्यपद्धति विशिष्ट बनती है और कार्य की गुणवत्ता निरन्तर विकासमान होती है।

ये सभी कार्य स्व–अनुशासन को स्वभाव का हिस्सा बनाते हैं। स्व–अनुशासन से परिपूर्ण संस्थाध्यक्ष, शिक्षक, कर्मचारी ही विद्यार्थियों को स्व–अनुशासन का पाठ पढ़ा सकते हैं। स्व–अनुशासित संस्था का परिसर एवं संस्था ही महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के मानकों पर खरा उतर सकती है।

हमारी कार्यपद्धति की एक और विशिष्टता **दायित्वबोध** की है। उपर्युक्त गुणों का निरन्तर विकास करने वाले व्यक्ति अथवा समूह में दायित्वबोध की प्रवृत्ति स्वतः–स्फूर्त जन्म लेती है एवं उपर्युक्त गुणों के विकास के साथ–साथ प्रबलतर होती जाती है। वस्तुतः दायित्वबोध व्यक्तिगत होता है जो संस्था में समूहगत दायित्वबोध का आभास कराता है। अपनी संस्थाओं के हम सभी समर्पित सेवा–भावी लोगों को दायित्वबोधी होना ही होगा। स्वंय के प्रति, परिवार के प्रति, संस्था के प्रति, समाज के प्रति, राष्ट्र के प्रति, और फिर समष्टि के प्रति हमारा दायित्वबोध ही जीवन की हमारी व्यापक भूमिका सुनिश्चित करेगा। श्री गोरक्षपीठ के वैचारिक अधिष्ठान एवं महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के उद्देश्य के आलोक में विकसित दायित्त्वबोध हमे और हमारी संस्थाओं को समाज–राष्ट्र में विशिष्टता प्रदान करेगा और हम औरों को भी मार्ग दिखाने वाले बन सकेंगे।

जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति की व्यवस्थित **दिनचर्या** उसे निरन्तर प्रभुता प्रदान करती है उसी प्रकार संस्था की व्यवस्थित दिनचर्या संस्था को प्रभुता सम्पन्न बनाती है। किसी भी उद्देश्य को प्राप्त करने वाली संस्था को तद्नुरूप अपनी दिनचर्या का निर्धारण करना ही होगा। प्रतिदिन संस्था की दिनचर्या प्रारम्भ होने से अगले दिन के लिए स्थगित होने तक का कार्य अपने उद्देश्य प्राप्ति हेतु सुनिश्चित होना चाहिए। यह कार्य संस्थाध्यक्ष द्वारा सामूहिक रूप से तय किया जाना चाहिए और इसका कड़ाई के साथ पालन होना चाहिए। संस्थाध्यक्ष को संस्था प्रारम्भ होने से एक घंटा पूर्व अपनी स्वयं की उपस्थिति सुनिश्चित करनी चाहिए। चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों की उपस्थिति भी संस्थाध्यक्ष के साथ ही होनी चाहिए जिससे कि प्रार्थना–सभा प्रारम्भ होने के पूर्व संस्था के भवन की पूरी सफाई सुनिश्चित हो सके। आधे घंटे पूर्व कर्मचारियों एवं शिक्षकों की उपस्थिति सुनिश्चित की जानी चाहिए, जिससे प्रार्थना–सभा से पूर्व संस्था की व्यवस्थित दिनचर्या हेतु सभी तैयार हो सके, संस्थाध्यक्ष के साथ आपस में दिनभर की गतिविधियों पर अनौपचारिक चर्चा हो सके। प्रतिदिन प्रार्थना सभा में राष्ट्रगान, राष्ट्रगीत, ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी माँ सरस्वती की वन्दना, ईश वन्दना सामूहिक रूप से भावपूर्वक किया जाना चाहिए।

किसी महापुरुष की जयन्ती/पुण्यतिथि पर उनके बारे में प्रेरणास्पद उद्‌बोधन के साथ उन्हें याद किया जाना चाहिए। प्रार्थना सभा में संस्थाध्यक्ष, शिक्षक एवं कर्मचारी को अनिवार्यतः उपस्थित ही रहना चाहिए। प्रार्थना सभा के पश्चात प्रारम्भ कक्षाएं स्व-अनुशासित ढंग से सम्पन्न होनी चाहिए। अपने-अपने दायित्व का पालन करते हुए परिसर-संस्कृति के अनुरूप परिसर का संचालन करते हुए उसे बीते कल से बेहतर बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। निर्धारित समय पर संस्था का उस दिन का सभी कार्य उसी दिन सम्पन्न हो चुकना सुनिश्चित कर ही अगले दिन के लिए संस्था में दैनिक-कार्य स्थगित किया जाना चाहिए।

नियमित शिक्षणेत्तर गतिविधियाँ भी दिनचर्या का हिस्सा होना चाहिए। पठन-पाठन स्थगित कर सामान्यतः कार्यक्रम शिक्षण-संस्था में आयोजित करने की संस्कृति को नहीं पनपने देना चाहिए। इस दृष्टि से एक प्रमाणित रास्ता है कि किसी व्याख्यान/कार्यक्रम के दिन प्रत्येक कक्षाएँ आवश्यकतानुसार ५ से १० मिनट कम कर नियोजित समय में व्याख्यान/कार्यक्रम किया जाना चाहिए। इस प्रकार सभी कक्षाएँ संचालित करते हुए व्याख्यान/कार्यक्रम को हम विद्यार्थी के सामूहिक कक्षा का स्वरूप प्रदान कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की जिन संस्थाओं ने यह कार्य-संस्कृति विकसित की है उनका अनुकरण किया जा सकता है। इस प्रकार संस्था की विशिष्ट दिनचर्या भी हमारी कार्यपद्धति का हिस्सा है।

उपर्युक्त **कार्य एवं कार्यपद्धति** को हम अपने-अपने स्तर पर और अधिक परिमार्जित करें। स्वयं के मौलिक प्रयोगों एवं प्रयत्नों से इस कार्य एवं कार्यपद्धति को और विकसित करें। एक-दूसरे के अनुभवों तथा एक-दूसरे के द्वारा विकसित कार्य संस्कृति को सामूहिक कार्य-संस्कृति का हिस्सा बनाएँ। तथापि अभी तक विकसित उपर्युक्त कार्य-संस्कृति के आलोक में हम वार्षिक एवं पंच-वार्षिक योजना बनाकर कार्य करें।

२०३२ ई. महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद के स्थापना का **सौंवा वर्ष** होगा। २०३२ आने में १५ वर्ष हैं। अतः अच्छा होगा कि हम महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के सौ वर्ष पूर्ण होने पर अपनी संस्था का उत्कर्ष बिन्दु निर्धारित कर आज ही से कार्य करें। इस दृष्टि से १५ वर्षों की दीर्घकालिक योजना को पंचवर्षीय योजना बनाकर तथा पंचवर्षीय योजना को वार्षिक योजना बनाकर कार्य करें। योजना बनाते समय संस्था यह ध्यान रखें कि आज वह कहाँ खड़ी है, क्योंकि हर संस्था का

प्रस्थान बिन्दु अलग-अलग होगा। कोई संस्था आज जहाँ खड़ी है वहीं से उसे आगे बढ़ना है। बनायी गयी वार्षिक योजना का प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, प्रत्येक माह, त्रैमासिक, षट्मासिक स्वयं समीक्षा करते हुए अगला कदम निर्धारित किए जाते रहना चाहिए। संस्थाध्यक्ष, शिक्षक, कर्मचारी, विद्यार्थी द्वारा निरन्तर आत्म-मूल्यांकन के साथ-साथ सामूहिक एवं संस्थागत मूल्यांकन भी किया जाते रहना चाहिए। इस प्रकार अनवरत आत्म-परीक्षण करते हुए हम अपने दूरगामी लक्ष्य की ओर निर्धारित पथ पर तय की गयी गति से बढ़ते हुए महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के उद्देश्यों के अनुरूप अपनी सफल भूमिका सुनिश्चित कर सकेंगे। हाँ हमें हमेशा याद रखना होगा कि हमारा कार्य राष्ट्र एवं समाज को समर्पित होने के कारण ईश्वरीय कार्य है, हमारा उद्देश्य राष्ट्र-निर्माण एवं लोक-कल्याण है और हमारा पथ सेवा-समर्पण एवं साधना का पथ अर्थात् देवपथ है।

# शिक्षा के आयाम

**डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय***

**(क) बोलने की कला**

बहुत सारी कलाओं में बोलना (संवाद) भी एक कला है। बोलने से मेरा अभिप्राय बातचीत करने से है, व्याख्यान (भाषण) देने से नहीं। यदि किसी को व्याख्यान देने की कला सीखनी हो तो उसे स्व. दत्तोपन्त ठेंगड़ी (जनसंघ के श्रमिक प्रकोष्ठ के बड़े नेता-संगठक) का लेख अवश्य पढ़ना चाहिए। यह लेख पढ़ने के बाद मेरा विश्वास है कि किसी व्यक्ति को इस विषय पर कुछ और पढ़ने की जरूरत महसूस नहीं होगी। खैर, मैं यहाँ बात बोलने (संवाद स्थापित करने) के अर्थ में कर रहा हूँ।

मैंने अपनी जिन्दगी में ऐसे बहुत से लोगों को देखा है जिनकी बातचीत की शैली अत्यन्त मोहक थी। ऐसे लोग आज भी हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत कम होती जा रही है। ऐसे लोग बहुत हैं जिन्हें बातचीत का सलीका-सऊर मालूम नहीं है। घर-बाहर रोज हो रहे बखेड़े के पीछे संवाद के इसी कौशल-सलीके-तौर-तरीके का बेहद अभाव है।

हमारे किसी मनीषी ने बहुत पहले वाणी की मर्यादा और उसकी सीमाओं का संकेत कर दिया था-

**"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ब्रूयान्न सत्यमप्रियम्।**
**प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।**

(सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए, प्रिय झूठ नहीं बोलना चाहिए, यही सनातन-शाश्वत धर्म है।) शास्त्रकार ने यहाँ सिर्फ यही कहा है कि 'क्या' बोलना चाहिए। कैसे बोलना चाहिए, इस पर वह मौन है।

उपनिषद्कार (तैत्तिरियोपनिषद्) ने तो बिना किसी लाग-लपेट के सीधे

---

*पूर्व प्राचार्य, किसान पी.जी. कॉलेज, सेवरही (कुशीनगर)

'सत्यंवद' (सच बोलो) का आदेश दे दिया था। शायद उसे पता ही नहीं था कि आने वाले दिनों में आदमी को सच बोलने की कीमत कैसे-कैसे चुकानी पड़ेगी। हो सकता है उस वक्त (उपनिषद्काल में) सच बोलना आज जैसा खतरनाक न रहा हो। जो हो, हम तो बात २१वीं शताब्दी में कर रहे हैं।

बोलने-बतियाने की भाषा और शैली के सम्बन्ध में सबसे ज्यादा संजीदा मुझे मध्यकाल के नीतिज्ञ, योद्धा, भक्त, कवि अब्दुर्रहीम खानखाना प्रतीत होते हैं। उन्होंने कई-कई तरह से हमें वाणी के शिष्ट व्यवहार का तरीका बताया है। सबसे पहले तो वे बड़ी संजीदगी से कौवा और कोयल के रूप-रंग की समानता को सामने रखते हुए उनकी बोली में छिपी कर्कशता और मधुरता के आधार पर उनकी भिन्नता और महत्ता का बखान करते हैं-

**"दोनों रहिमन एक से जौ लौं बोलत नाहिं।**
**जानि परत हैं काक-पिक ऋतु बसंत के माँहिं॥"**

फिर एक योद्धा-सेनापति रूप में वे बातचीत की शैली विषयक जो नसीहत देते हैं वह काफी अच्छी मगर चुनौती भरी है-

**"खीरा मुख ते काट कर, मलिए नोन लगाय।**
**रहिमन कड़वे मुखन की, चहियत यही सजाय॥"**

खीरा का मुँह काटकर जब उस पर नमक रखकर रगड़ते हैं तब उसकी कड़वाहट खत्म होती है। इस उदाहरण को सामने रखकर रहीम ने फतवा जारी कर दिया है कि कड़वा (कठोर, अप्रिय, अशिष्ट) बोलने वालों का गला काट देना चाहिए। यह सामन्ती जीवन का सच है। हाँ, कड़वा बोलने वाले आज भी इससे कुछ तो सीख ही सकते हैं।

वाणी के माधुर्य गुण पर रीझने वाले एक कवि का सांकेतिक स्वर देखते ही बनता है-

**"कौवा किसका धन हर लेता, कोयल किसको क्या देती है।**
**केवल मीठे वचन सुनाकर, सबको वश में कर लेती है॥"**

वाणी की कला के सम्बन्ध में सन्त-कवि कबीर का कथन तो और भी स्पृहणीय है-

**"ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय।**
**औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय॥"**

वाणी का जादू होता ही निराला है। अभिमानरहित होकर अर्थात् विनम्रता के साथ यदि वाणी का व्यवहार किया जाय तो निश्चय ही सामने वाला प्रसन्न-प्रमुदित होगा और स्वयं बोलने वाला भी आन्तरिक आह्लाद का अनुभव करेगा। ठीक इसके विपरीत जब कोई कठोर-कड़वाहट भरी बात बोलता-कहता है तब सामने

वाला (श्रोता) तो दग्ध-दुखी-क्रुद्ध होता ही है, बाद में बोलने वाला भी अशान्त-उद्विग्न और उत्तप्त हो जाता है। मधुर वाणी से दोनों को सुख और कठोर से दोनों को दुख मिलता है।

मीठी वाणी से सर्वदा सुख उपजता है। यह एक ऐसा मंत्र है जिससे लोग वश में हो जाते हैं। इससे इच्छित की प्राप्ति होती है। इसलिए तिक्त-अप्रिय वाणी का परित्याग ही श्रेयस्कर है। सन्त तुलसीदास एक ऐसे ही श्रेष्ठ-श्रेयस्कर मार्ग का सुझाव देते हैं-

**"तुलसी मीठे वचन से, सुख उपजत चहुँओर।**
**वशीकरण यह मंत्र है, तजि दे वचन कठोर।।"**

मैं स्वयं चकित हूँ अंग्रेजी का एक छोटा-सा वाक्य पढ़कर। कितनी बड़ी चुनौती खड़ी करता है यह नन्हा-सा जुमला, बोलने वाले के सामने। उसकी (वक्ता की) औकात बता देने की शर्त रख देता है-

You open your mouth, I will tell you what you are.

देखा न आपने चैलेंज! है न विस्मित कर देने वाली शर्त? वाणी भी क्या चीज़ है कि इसे सुनते ही कोई किसी की औकात बता दे। बता दे कि क्या है वह, कितने में है वह, कैसा है वह। उसके ज़मीर की तासीर कैसी है! उसकी सभ्यता, शिक्षा, संस्कार, शील, तहजीब, परिवार की पृष्ठभूमि, वंशानुगत आभिजात्य का एक-एक पृष्ठ खोलकर आपके समक्ष रख देगा वह। ये वाणी भी क्या चीज है? कितना कुछ छिपा है इसके भीतर?

**"बात चाहे बेसलीका हो मगर**
**बात कहने का सलीका चाहिए।"**

बेसलीका बात को भी सलीके से कहना। यह तो बड़ी और कड़ी शर्त सामने रख दी शायर ने। लोग हैं कि सलीकेदार बात को भी सलीके से नहीं कह पाते। भला, वे बेसलीका बात को सलीके से कैसे कह देंगे। बड़ा दिल, बड़ा दिमाग, बड़ा संस्कार और बड़ी सभ्यता होगी तब न कोई बेसलीका बात को सलीके से कह सकेगा! आसान है क्या इस सलीके को पा जाना? बड़ी कसरत की जरूरत पड़ेगी। बड़े अभ्यास के बाद सम्भव हो सकेगा यह। बड़ी सतर्कता से सिद्ध हो सकेगी यह कला। खराब बात को खूबसूरती से पेश करना वाणी की कला की कसौटी है। क्रोध में भी सहज होना, आवेश में भी शालीन रहना, मधुर बोलना बड़प्पन की पहचान है। ईश्वर करे कि ये ऊँचाई मिले हर बोलने वाले को और वह कठोर बोलने वालों के सामने प्रतिदर्श-प्रतिमान बन सके।

लोकभाषा की जड़ें बहुत गहरी होती हैं और लोकानुभव बड़ा व्यापक। लोक के मुख में जैसे अनुभव का सागर समाया होता है। बचपन में सुनी हुई यह उक्ति

आज स्मृति-लोक से मेरी कलम पर उतर जाना चाहती हो जैसे-

**"इहे मुँहवा राज रजावे, इहे मुँहवा भीख मँगावे।"**

'मुँहवा' यहाँ मुख के लिए प्रयुक्त लोकभाषा का शब्द है। इसका अभिप्राय यहाँ वाणी-बोली से है। शिष्ट बोली से किसी राजा-सत्ताधारी के प्रसाद से राज मिल सकता है, सुख-समृद्धि का द्वार खुल सकता है और अशिष्ट बोली से, किसी के कोप का शिकार बनना, भीख माँगने को विवश-अभिशप्त होना पड़ सकता है।

"बातहिं हाथी पाइये बातहिं हाथी पाँव" मतलब साफ है। यदि आप बात करने में निपुण हैं और बातचीत के अन्दाज-शिल्प-तौर-तरीका से अवगत हैं तो आपको पुरस्कार में हाथी प्राप्त हो सकता है और यदि इसके विपरीत आपकी बातचीत का लहजा खराब-अशिष्ट है तो आपको दण्डस्वरूप हाथी के पैरों तले रौंदा भी जा सकता है।

शास्त्र, उपनिषद्, कबीर, रहीम और तुलसी जैसे सन्तों-भक्तों और नीतिज्ञों के ज्ञानानुभव सम्पृक्त कथन, लोकवाणी के अनुभव-दीप्त स्वर के क्रम में मुझे वसीम बरेलवी जैसे आज के विचारप्रधान शायर के कुछ शेर यहाँ बड़े मौज़ूँ लगते हैं-

**"कौन सी बात कहाँ कैसे कही जाती है**
**ये सलीका हो तो हर बात सुनी जाती है**
**एक बिगड़ी हुई औलाद भला क्या जाने**
**कैसे माँ-बाप के होठों से हँसी जाती है।"**

कितनी पते की बात कही है वसीम साहब ने। लोग बात तो करते हैं - अपनी कहते हैं किन्तु यह भूल जाते हैं कि वे किससे, कहाँ और कैसे कह रहे हैं। उनके इस प्रकार के देश-काल से बिल्कुल बेपरवाह-असावधान कथन का प्रभाव-परिणाम सकारात्मक हो, यह सम्भव नहीं लगता। और जिसके पास उपर्युक्त चीजों की (उपयुक्त) समझ होती है, सलीका होता है, उसकी बात गौर से सुनी ही नहीं जाती कदाचित् परिणामदायी-प्रभावी भी होती है। बिगड़े हुए लोग, वे बेटे-बेटी हों या भाई-बन्धु, शिष्य-मित्र हों या मातहत-अनुगत, अपनी वह सामान्य-सतही समझ भी गँवा बैठते हैं कि कैसे उनकी बदजबानी-बदसलूकी उनके परिजनों के होठों की खुशी, परिवार की प्रसन्नता, सुख-चैन छीन लेती है। मेरा मन डॉ. वसीम बरेलवी को इन उम्दा शेरों के लिए दाद देने का होता ही है कि उनका एक दूसरा दमदार शेर दनदनाता हुआ जेहन में उभर आता है-

**"न तेरी शान घट जाती न रुतबा कम हुआ होता**
**जो गुस्से में कहा तूने उसे हँस कर कहा होता।"**

यह तो सलाहियत की इन्तहाँ है साहब! दिल के किस कोने से उठाई होगी शायर ने ये बात – इसे वही जाने। इस शेर की रूह में समाकर हम तो बस इतना जान पाये हैं कि वाकई जो बात हम गुस्से के अजीब तेवर में कह जाते हैं उसे अगर हँसकर कह पाते तो कितना अच्छा होता। होता तो प्रायः यही है कि गुस्से की बदहवासी में हम कुछ या बहुत कुछ ऐसा कह जाते हैं कि सामने वाले पर जो गुजरती है सो गुजरती ही है बाद में हमें खुद परेशान, लज्जित और व्यथित होना पड़ जाता है। किसी शायर ने कितनी मार्मिक बात कही है- "जो बात न कहनी थी गुस्से ने उगलवा दी, वे बाद में बहुत पछताए मुझ पे खफा होकर" यदि कोई इन नसीहतों पर ध्यान दे तो उसे कभी ऐसे दिन देखने ही न पड़ें।

## (ख) सुनने की कला

सुनना एक कला है, साधना है, तपस्या है। किसी की बात हो, व्याख्यान हो, संगीत हो अथवा प्रकृति का मौन सन्देश – डूबकर सुनना-एकात्म होकर सुनना सुनना है। सुनना सार्थक तब है जब वह आत्मसात् हो और आनन्द भी दे। आमतौर पर सुनना एक परीक्षा से गुजरने के समान होता है। इस परीक्षा में फेल होने वालों का प्रतिशत ज्यादा है, पास होने वालों का कम। सबमें सुनने का धैर्य है, न गुण, न सलीका। सुनने के लिए जरूरी है धैर्य, शान्ति और स्थिरता। जिसमें यह सब नहीं है वह, घर में हो, कक्षा में हो या सभा-समारोह में, उपस्थित होकर भी अनुपस्थित रहता है।

***संवाद हो या वार्ता-व्याख्यान:*** व्यक्ति में सुनने का सलीका होना चाहिए। संवाद में उचित रीति से अपनी बात रखनी चाहिए। सामने वाला कुछ कहना चाहता है तो उसे मौका देना चाहिए। खास बात यह है कि जब हम किसी को ध्यान से सुनते हैं तब केवल उसके शब्दों को नहीं सुनते, शब्दों में निहित अर्थ और भावनाओं को भी सुनते हैं। ध्यान रहे अर्थ, मर्म, भावना या भंगिमा को समझना तभी सम्भव है जब हममें एक अच्छा श्रोता आसन जमाकर बैठा हो।

***करें रेस्पॉन्स:*** बोलते समय हर वक्ता सामने के श्रोता समूह पर दृष्टिपात करता है। वह गौर से रेस्पॉन्स करने वालों और नेगलेक्ट करने वालों को देखता है। उसके बोलने पर दोनों का असर पड़ता है। रेस्पॉन्स करने वाले वक्ता के लिए संजीवनी का काम करते हैं। सही वक्त पर बजी तालियाँ भी श्रोता की समझदारी का संकेत देती हैं।

***रहें मुक्त:*** किसी को सुनते हुए अपनी विद्या या वयवार्द्धक्य के अहंकार को दूर रखें। किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से भी मुक्त रहें। अहंकार और पूर्वाग्रह व्यक्ति को सुनने की मन:स्थिति में आने ही नहीं देते। सुनने के सुख तथा सीख से सर्वथा वंचित कर देते हैं।

***बचें उत्तेजित होने से:*** वक्ता को सुनते हुए कभी उत्तेजित न हों। किसी को सुनते हुए कही जा रही बातों पर ध्यान दें। उस पर मनन करें। वक्ता की बात को काटने की तैयारी में न लग जायँ। नये प्रश्न न गढ़ें। वक्ता से बहस की मुद्रा में न आएँ। हाँ, सुनते हुए सतर्क रहें। कहीं कोई तथ्यगत त्रुटि हो तो उसे नोट कर लें। वक्तव्य के अन्त में, अवसर दिया जाय तो, वक्ता का ध्यान विनम्रता के साथ उधर आकृष्ट करें। आवश्यक हो तो संगत प्रश्न करें। ध्यान रखें कि प्रश्न प्रश्न जैसा हो।

***व्यक्तित्व पर नहीं विचार पर ध्यान दें:*** किसी को सुनते समय उसके कथ्य, कथ्य के मर्म और शिल्प (कथन की भंगिमा) पर ध्यान केन्द्रित करें। वक्ता की शारीरिक बनावट, उसके वेश-विन्यास, हेयर स्टाइल, हाव-भाव पर ज्यादा ध्यान न दें। ऐसा करने से वक्ता द्वारा कथित-प्रतिपादित विचार, तथ्य, सिद्धान्त और उससे उत्पन्न सन्देश समझ में आने से रह जाते हैं और श्रोता सुनने के लाभ से वंचित रह जाता है।

***कमजोर को भी सुनें:*** कई बार ऐसा होता है कि सामने कोई कमजोर वक्ता होता है। उसे सुनना अच्छा नहीं लगता। मन में खीझ उठती है। शिष्टाचार का तकाजा है कि उसे भी सुन लिया जाय।

***सुनने का मतलब:*** सुनने का मतलब होता है सावधान होकर सुनना, तन्मय होकर सुनना, विनम्र होकर सुनना, शान्त-एकाग्र-स्थिर होकर सुनना, कुछ जानने-समझने-सीखने के भाव से सुनना, अहंकार-पूर्वाग्रह से मुक्त होकर सुनना, विषय पर अर्जित अपने पूर्व ज्ञान को आत्मसात् करते हुए - नोट लेते हुए सुनना, कृतज्ञ भाव से सुनना।

***ठीक से सुनने का परिणाम:*** ठीक से सुनना व्यक्ति को समर्थ (कई अर्थों में) बनाता है। सुनने वाले के अन्दर एक ऐसी ताकत पैदा कर देता है जिससे उसकी प्रतिक्रियाएँ प्रभावशाली हो जाती हैं। आज का अच्छा श्रोता, कल का अच्छा वक्ता हो सकता है। सुनना सीख जाने पर फालतू बोलना कम हो जाता है तथा सार्थक बोलने का सलीका आ जाता है। श्रद्धा से सुनना व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करता है। इससे वाणी का वर्चस्व बढ़ता है और समझ की सीमा का विस्तार भी होता है।

## सुनना

सुनना कैसे?<br>
सुनें/ जैसे सुन लिया था अभिमन्यु ने<br>
चक्रव्यूह-भेदने की कला<br>
माँ के गर्भ में

सुनें/ जैसे सुनता है साँप
अपनी चमड़ी के हर एक सेल से
क्योंकि नहीं होते उसके कान

सुनें/ जैसे सुनता है वन-मृग
शिकारी का मोहक-मारक तंत्र-नाद

सुनें/ जैसे सुनती है माँ
अपने बच्चे का रुदन
धँसी हुई घर के कामों में
जैसे सुनती हैं आँखें
फागुन में/ प्रिय के अबोले बोल

सुनें/ जैसे सुनता है सागर
पूर्णिमा के चाँद की अबस पुकार
आधी-आधी रातों को

सुनें/ जैसे सुनते हैं तरु-लता-गुल्म
बसंत के आगमन की मौन आहट
सुनें/ जैसे सुनते हैं भौंरे/ सुनती हें तितलियाँ
दूर कहीं वन-उपवन में खिले फूलों के
मधुमय आमंत्रण

सुनें/ जैसे सुनती है धरती
बीजों के अँखुवाने का संगीत
जैसे सुनता है आकाश
वन पाँखियों के गीत

सुनें/ जैसे सुनता है कोई जिज्ञासु/ कोई साधक
कोई भक्त/ कोई कलाकार
कोई मनीषी वैज्ञानिक
अपने भविष्य को बनाने में/ एकलव्य भाव से तल्लीन कोई विद्यार्थी

सुनें/ आज सुनने के लिए/ कल सुनने के लिए सुनें
सुनें/ आज बनने के लिए/ कल बनाने के लिए सुनें
सुनें तो सुनें सिर्फ
एकमन होकर सुनें
हजार मन लेकर सुनें।

# योग और शिक्षा

**प्रो. रामअचल सिंह***

योग का सामान्य अर्थ होता है जोड़ना। आज भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी ने जनता के बीच योग करके जनता को स्वयं से जोड़ा है। यही योग के अर्थ की सार्थकता सिद्ध होती है। जब ईश्वर भक्त स्वयं को ईश्वर से जोड़ता है, स्वयं को ईश्वर में और ईश्वर को स्वयं में अनुभव करता है तो यह योग होता है। आत्मा को परमात्मा से जोड़ना ही योग है। कोई भी कार्य भक्ति से ईश्वरीय हो जाता है। भक्ति भोजन को प्रसाद और संगीत को कीर्तन बना देती है। भक्ति से घर-मन्दिर, क्रिया-सेवा और व्यक्ति-मनुष्य बन जाता है। योग का कार्य मनुष्य बनाना है। मनुष्य से तात्पर्य मानवीय मूल्यों की युक्तता से है।

कृष्ण गोपियों के साथ रहते हुए भी ब्रह्मचारी थे क्योंकि उनका सम्बन्ध आत्मिक था। इसलिए उन्हें योगेश्वर कहा जाता है। अगस्त्य ऋषि भोजन करते हुए भी निराहारी थे, क्योंकि उनका निवाला ब्रह्म को समर्पित था। आत्मा और परमात्मा के बीच इसी प्रकार के सम्बन्ध होते हैं।

मूल्य महत्त्वपूर्ण होते हैं। जब द्रौपदी का चीरहरण हो रहा था तो भीष्म पितामह चुपचाप बैठे रहे, कोई प्रतिरोध नहीं किया जिसके नाते उन्हें मृत्यु के समय बाणों की शय्या मिली और जटायु ने रावण का विरोध किया जिसके नाते उसे राम की गोद मिली।

शिक्षा वह है जो छात्र को अपने राष्ट्र से जोड़े, अपने इतिहास, संस्कृति, दर्शन और राष्ट्रीय स्वाभिमान से जोड़े। अगर ऐसा नहीं है तो ऐसी शिक्षा किसी काम की नहीं। शिक्षक विषय के ज्ञान के साथ ही छात्रों को ऐसी शिक्षा दे जिससे छात्रों में चरित्र का निर्माण हो। उनमें सेवा और समर्पण के भाव जगें।

मानव जीवन श्रेष्ठ है। मनुष्य का चिन्तन जैसा होगा वैसा स्वभाव बनेगा। स्वभाव आदत में, आदत चरित्र में और चरित्र जीवन का आदर्श बन जाता है। सच्चरित्रता से ही राष्ट्र निर्माण होता है। हम राष्ट्र निर्माण के पुनीत कार्य में संलग्न हैं, जो ईश्वरीय है। यदि जीवन है तो सपने हैं, सपने हैं तो उद्देश्य है, उद्देश्य है तो तरीके हैं, तरीके हैं तो कठिनाइयाँ हैं, कठिनाइयाँ हैं तो उमंग है और उमंग है तो जीत है। नैराश्य जीवन का कोई अर्थ नहीं।

---

*पूर्व कुलपति, राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद (उ.प्र.), श्री गोरखनाथ मन्दिर में 15-21 जून 2017 को सम्पन्न साप्ताहिक योग शिविर एवं शैक्षिक कार्यशाला के समारोप में दिए गए भाषण का सार-संक्षेप।

# योग : समग्र स्वास्थ्य का विज्ञान

**प्रो. द्वारका नाथ***

- ***न तस्य रोग न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगग्निमयं शरीरम्।।***

  **– श्वेताश्वतर उपनिषद**

  *अर्थात् जिस योग को योगाग्निमय शरीर (यौगिक शरीर) प्राप्त हो जाता है, उसे कोई रोग नही होता, शीघ्र बुढ़ापा नहीं आता और अकाल मृत्यु भी नहीं होती।*

- ***युवा वृद्धो अतिवृद्धो व्याधितो दुबलोऽति वा। अभ्यासाद् सिद्धिमाप्नोति सर्व योगेश्वतन्द्रितः।***

  *अर्थात् आपका शरीर वृद्ध हो, युवा हो, रोगी हो, दुर्बल हो, किसी भी हालत में आप योगाभ्यास कर सकते हैं। निरन्तर अभ्यास से आप जल्दी ही शरीर पर नियंत्रण पा लोगे और उसको स्वास्थ्यपूर्ण बना सकते हो।*

- ***योग आपकी जिंदगी में वर्ष जोड़ता है और आपके वर्षों में जीवन।***

  ***– एलेन फिंगर, प्रख्यात योग शिक्षक***

२७ सितम्बर २०१४ को संयुक्त राष्ट्र महासभा (यूनाइटेड नेशंस जनरल असेम्बली) के ६९वें सत्र को संबोधित करते हुए भारत के प्रधानमंत्री माननीय श्री नरेन्द्र मोदी ने विश्व समुदाय से अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस मनाने का आह्वान किया। ११ दिसम्बर २०१४ को संयुक्त राष्ट्र महासभा के १९३ सदस्यों ने रिकार्ड १७७ सह–समर्थक देशों के साथ प्रतिवर्ष २१ जून को अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस मनाने का संकल्प सर्वसम्मति से अनुमोदित किया। अपने संकल्प में **संयुक्त राष्ट्र महासभा ने स्वीकार किया कि योग स्वास्थ्य एवं कल्याण के लिए पूर्णतावादी दृष्टिकोण प्रदान करता है। योग विश्व की जनसंख्या के स्वास्थ्य तथा उनके लाभ के लिए विस्तृत रूप से कार्य करेगा। योग जीवन के सभी पहलुओं में सामंजस्य बैठाता है और इसलिए रोग के रोकथाम, स्वास्थ्य संवर्धन और जीवन शैली सम्बन्धी अनेक विकारों के प्रबन्धन के लिए जाना जाता है।**

---

* प्रोफेसर, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

योग एक विशुद्ध विज्ञान है जो हमारे मन, शरीर और आत्मा को कलात्मक ढंग से एक लय में काम करने का रास्ता दिखाता है। यह वह विज्ञान है जो विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं का सम्मिलन है जिसके माधयम से मनुष्य शरीर एवं मन के बीच सामंजस्य स्थापित कर आत्म साक्षात्कार करता है और सभी दु:खों से मुक्त हो जाता है। जैसे चिकित्सा विज्ञान सभी के लिए, सारे विश्व के लिए लाभदायक है वैसे ही योग विज्ञान भी सभी के लिए हितकर है। अन्य सभी विज्ञानों की भाँति योग की साधना प्रत्येक देश और काल के लोग कर सकते हैं। **स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भौतिक विज्ञानों की तरह योग एक व्यवहारिक विज्ञान है।**[१] जिस तरह अन्य प्रकार के विज्ञान अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान कर मानव जाति की सेवा कर रहे हैं, उसी तरह योग विज्ञान भी विभिन्न स्तरों पर मानव जाति की सेवा करने में समर्थ हैं। **विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार जहाँ चिकित्सा विज्ञान रोगों की चिकित्सा करके उन्हें समाप्त करता है, वहाँ योग विज्ञान रोगों को होने ही नहीं देता।**[2] **यह योग विज्ञान की विशेषता हैं।** योग के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध मन:शस्त्री **डॉ. सी.जी. जंग** (Dr. C.G. Jung) लिखते हैं–

''जब कोई धार्मिक प्रणाली अपने को 'विज्ञान सम्मत' प्रणाली बताती है, तब इस सम्बन्ध में निश्चिन्त रहा जा सकता है कि वह पश्चिम की जनता के लिए भी ग्रहण–योग्य है। योग इस अपेक्षा की पूर्ति करता है। इसके नावीन्य और अल्पपरिचित वस्तु को जानने के आकर्षण के अतिरिक्त भी कई प्रबल कारण हैं, जिससे योग के बहुत से अनुयायी हैं। योग में अनुभूतियों को नियन्त्रि रखने की सम्भावना है और इस प्रकार वह 'तथ्य' विषयक वैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त व्यापकता, गहराई, सुप्राचीनता, सिद्धान्त और पद्धति के कारण जिनमें जीवन के सब दृष्टिकोण समाहित हैं, योग में अकल्पित और स्वप्नातीत सम्भावनाएँ निहित है।''

प्रत्येक धार्मिक या दार्शनिक साधना में एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक अनुशासन या मानसिक आरोग्य प्रणाली है। योग की बहुविध विशुद्ध शारीरिक प्रक्रियाओं (यहाँ डॉ. जंग का अभिप्राय 'हठयोग' से है, जो आसनादि की स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन–प्रदायिनी एक विशिष्ट प्रणाली है।) का अर्थ भी एक शारीरिक योग प्रणाली ही है, जो सामान्य मल्ल क्रीड़ा और श्वास–प्रश्वास के व्यायाम की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम हैं–यहाँ तक कि ये मात्र यान्त्रिक और वैज्ञानिक नहीं, परन्तु आध्यात्मिक भी हैं। शरीर के भिन्न–भिन्न अंगो की साधना के समय योग साधक

उन्हें परिपूर्ण रूप से आत्मा के साथ एकाकार करता है। प्राणायाम इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। प्राणायाम में प्राण श्वास भी है और ब्रह्मांड की विश्व संचालक शक्ति भी।... ''योग शारीरिक और आध्यात्मिक भावों में परस्पर अपूर्व सुसामंजस्य स्थापित करता है।'' वे आगे कहते हैं – ''पूर्व में, जहाँ पर ये विचार और प्रक्रियाएँ विकसित हुई और जहाँ हजारों वर्षों की अखण्ड परम्परा ने आवश्यक आध्यात्मिक नींव तैयार कर दी है, योग शरीर और मन दोनों को एकीभूत कर देने की सर्वांगपूर्ण और समुचित पद्धति है, जिसके विषय में मुझें कोई शंका नहीं है। यह एकता एक ऐसी मनस्ताविक अवस्था का निर्माण करती है, जिससे अतीन्द्रिय अनुभूति संभव हो जाती है।''[३]

योग प्राचीन भारतीय दार्शनिक परम्परा और संस्कृति की अमूल्य देन है। भारतीय परम्परा की यह विशिष्टता है कि यह जीवन की समस्याओं का मात्र सैद्धान्तिक विवेचन नहीं करता बल्कि उसका व्यावहारिक समाधान भी प्रस्तुत करता है और यह समाधान तात्कालिक न होकर शाश्वत होता है और इस शाश्वत समाधान के रूप में यहाँ मुक्ति या मोक्ष ही जीवन का चरम लक्ष्य है। मोक्ष की प्राप्ति से जीवन के दु:खों का नाश हो जाता है। योग का प्राचीन लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। इसी के लिए साधक उसकी साधना करते थे। इसे ही निर्वाण, कैवल्य आदि नाम दिये गए हैं। इसे प्राप्त करके जीवात्मा समस्त दु:खों से दूर हो जाती है। वह समस्त क्लेशों, बंधनों, वासनाओं से मुक्त हो जाती है। योगाभ्यास का उद्देश्य सभी त्रिविध प्रकार के दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करना है। भारतीय चिंतन परम्परा के अनुसार, यही मानव जीवन का परम लक्ष्य है, परम पुरूषार्थ है।

योग शब्द संस्कृत भाषा की युज् धातु में घञ प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है– (१) युज् समाधौ = समाधि (२) युजिर योगे = जोड़ और (३) युज् संयमने = सामंजस्य। योग का वैयाकरण भले ही समाधि, संयोग या संयम का अर्थ दे, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से रूढ़ि में तो साधन का ही नाम योग है। अत: अनन्त साधनों यानी योगों की परिकल्पना है।

योग की परम्परा बहुत प्राचीन है। योग की परम्परा का प्रारम्भ कब से हुआ, इसके विषय में विद्वानों में मतभेद है। कोई वेद–उपनिषदों से योग की परम्परा का आरम्भ मानता है, कोई मोहन–जोदड़ों और हड़प्पा की संस्कृति को वैदिक संस्कृति से प्राचीन मानकर उससे योग परम्परा का आरम्भ मानता है। प्राचीन भारतीय साहित्य

में योग शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इस प्रकार वैदिक काल से ही योग-परम्परा प्रारम्भ हो गई थी। ऋक संहिता में उल्लेख है-

**यस्माद्ते न सिधयति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्नवति।**

अर्थात् योग के बिना विद्वान का कोई भी यज्ञकर्म सिद्ध नहीं होता। वह योग चित्तवृत्तियों का निरोध है, वह कर्तव्य कर्म मात्र में व्याप्त है।

वेदों की ही भाँति ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में भी योग सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध हैं। इसके बाद योग और स्पष्टता से उपनिषदों में उपलब्ध होता है। **श्वेताश्वतर उपनिषद** तो योग विद्या का प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है। वहाँ योग का प्रयोग करते हुए ध्यान रूप मंथन के द्वारा गूढ़ आत्मा के दर्शन की बात कही गई है- **ध्याननिमर्थनाभ्यासाद देवं पश्येन्निगूढ़वत्**[५]। योग की यह पुण्य परम्परा **महाभारत, पुराणों, स्मृतियों एवं योग** वासिष्ठ आदि ग्रन्थों में भी प्रवहमान हुई। **विष्णु पुराण** में कहा गया है- **योगः संयोग इत्युक्तः जीवात्म परमात्मने**। अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा का पूर्ण मिलन ही योग हैं। भगवद्गीता में कहा गया है - योग कर्मसु कोशलम्[६] अर्थात् कर्म कौशल योग है, समत्वं योग उच्यते[७] अर्थात् समत्व योग है। गीता में योग शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और ज्ञान, कर्म और भक्ति का विलक्षण समन्वय हुआ है। **ध्यान मार्ग** साधना का मार्ग है जो ज्ञान, भक्ति व कर्म तीनों में उपादेय है। **कर्मयोग** कर्म के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करने का मार्ग है। योग निष्काम कर्म है, कर्म कौशल अर्थात् कामना रहित कर्म है। ज्ञानयोग वह है जिसमें मनुष्य ज्ञान के द्वारा अपने परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करता है। भक्तियोग वह है जिसमें मनुष्य भक्ति और प्रेम के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करता है। भक्तियोग भक्ति द्वारा भगवत्-तत्व का सम्यक ज्ञान और भगवत्-प्रवेश है। गीता में योग को दुःख संयोग का वियोग बताया गया हैं जो दुःख का आत्यन्तिक निवृत्ति की ओर संकेत करता है।[८]

पतंजलि ने योग को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। यद्यपि योग पतंजलि से बहुत प्राचीन है, किन्तु योग सूत्र के रचयिता पतंजलि ने इसे सुसम्बद्ध दार्शनिक रूप दिया है। पतंजलि का राजयोग योग-दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। पतंज्जलि ने योग को चित्तवृत्तियों का निरोध बताया है-**योगश्चित्तवृत्ति निरोधः**।[९] चित्त वृत्तियों का निरोध समाधि में होता है अतः योग को समाधि भी कहा गया है-**योगः समाधिः**। चित्त का अर्थ है अन्तः करण। इसमें बुद्धि अहंकार और मन तीनों आ जाते हैं। चित्त

की शुद्धि और पवित्रता के लिए योग आठ (८) प्रकार के साधन बतलाता है। योग सूत्र में ८ अंगों का क्रम इस प्रकार है-

**'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणध्यानसमाधायोऽष्टावङ्गानि।'**

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के ८ अंग है।

योग की उपस्थिति न्याय वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन में भी पूरी स्पष्टता के साथ उपस्थित है। आचार्य शंकर ने योग शब्द को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया है। शैव, शाक्त, वैष्णव और तंत्र साधना में भी योग महत्वपूर्ण रूप से उपस्थित हैं। जैन और बौद्ध धर्म में योग साधना की पुण्य परम्परा सम्मानित हुई है। जैनाचार्यों के अनुसार जिन साधनों से आत्मा की सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह योग है। शंकराचार्य ने गौतम बुद्ध को योगिनां चक्रवर्ती कहकर प्रशंसा की है।

योग साधना के क्षेत्र में गोरखनाथ, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जिनके प्रभाव से अनेक संत सम्प्रदाय विकसित हुए। नाथ सम्प्रदाय में हठयोग की साधना का उत्कृष्टतम रूप प्राप्त होता है।

आधुनिक युग में योग साधना के इस पुण्य परम्परा को रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, योगिराज बाबा गम्भीरनाथ, श्यामा चरण लाहिड़ी, श्री युक्तेश्वर गिरी, परमहंस योगानन्द, श्री अरविन्द, रमण महर्षि, स्वामी शिवानन्द, सत्यानंद, महर्षि महेश योगी, स्वामी प्रभुपाद, ओशो (रजनीश), महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज, महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज, श्री श्री रविशंकर, स्वामी रामदेव जी जैसे योग साधकों ने प्रवहमान किया। स्वामी विवेकानन्द और परमहंस योगानन्द (क्रियायोग ध्यान) ने अमेरिका और अन्य यूरोपीय देशों को हिन्दू धर्म-दर्शन विशेषकर योग से न केवल परिचित कराया बल्कि इससे सम्बन्धित अनेक संस्थाओं के माध्यम से हिन्दू संस्कृति के व्यापक प्रचार-प्रसार का स्तुत्य कार्य भी किया। इस कार्य को आगे चलकर महर्षि महेश योगी ने अनुभवातीत ध्यान, ओशो (ध्यान योग), श्री रविशंकर ने आर्ट आफ लिविंग व सुदर्शन क्रिया, रामदेव ने सहज योग आदि के माध्यम से आगे बढ़ाया।

इस प्रकार ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, ध्यानयोग, मन्त्रयोग, जप योग, लययोग, हठयोग, कुण्डलिनी योग, प्रेमयोग, क्रियायोग, अभ्यासयोग, समग्र योग, शिवयोग, महायोग, जैनयोग, बौद्ध योग आदि का मार्ग प्रशस्त हुआ हैं। प्रत्येक

सम्प्रदायों के अपने अलग दृष्टिकोण और अभ्यासक्रम हैं जिसके माध्यम से प्रत्येक योग सम्प्रदायों ने योग के मूल उद्देश्यों और लक्ष्य तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की है। योग के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए गोपीनाथ कविराज जी कहते हैं "स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं। यह महायोग के नाम से साधकों में प्रसिद्ध है। अवस्था भेद के अनुसार महायोग ही मन्त्र योग, हठयोग, लययोग अथवा राजयोग के रूप में प्रकाशित होता है।"[१०]

योग का एक अन्य महत्वपूर्ण उपयोग, जिसे आधुनिक लक्ष्य भी कहा जा सकता है, इस जीवन के उत्थान के लिए, उसे उच्चतर बनाने के लिए है। कोई आवश्यक नहीं है कि मुक्ति प्राप्त की जाए, बल्कि अपने जीवन को उच्चतर बनाने के लिए, जिसे जितना आवश्यक हो, वह उतना करे। यदि कोई व्यक्ति केवल यह चाहता है कि उसका रोग दूर हो जाए, तो उसके लिए योग में जो बतलाया गया है, वह उसे करे। इस दृष्टिकोण से योग का महत्व अनेक क्षेत्रों में है।

इस तरह प्राचीन योग पर्वतों, गुफाओं एंव कंदराओं की गुह्यता से बाहर निकलकर विश्व समाज के समक्ष प्रस्तुत हुआ है। इसकी शक्ति, सामर्थ्य एवं अलौकिकता से जनसामान्य ही नहीं वैज्ञानिक समुदाय भी आकर्षित एवं प्रभावित हुआ है। वैज्ञानिकों ने अपने यंत्रों एवं उपकरणों के माध्यम से उसकी सत्यता को परखा और इसे वास्तविक एवं सत्य पाया।

मानव जाति के इतिहास में आज का युग सबसे ज्यादा रोमांचकारी युग है। आज लोगों के पास बहुत से साधन-सुविधाएं उपलब्ध हैं, जिनसे उनका जीवन सुविधा सम्पन्न व आकर्षक हुआ हैं। धनसंपदा, मनोरंजन व भोग के साधन इससे पहले कभी भी इतने उपलब्ध नहीं थे, जितने आज हैं। इसके बावजूद मनुष्य शारीरिक व मानसिक रोगों यथा उच्च रक्तचाप, मधुमेह, अवसाद, तनाव, क्रोध लोभ, भय, असुरक्षा से ग्रस्त है। आधुनिक जीवन शैली उत्तेजना से भरी हुई है। इस जीवन की अंधी दौड़ में हम भूल चुके हैं कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है। आज के प्रदूषित वातावरण में यह अनिवार्य हो गया है कि हम स्वयं को स्वस्थ और उर्जावान बनाये रखने के लिए योग को अपनायें। योग में आधुनिक जीवन शैली की जटिलताओं का समाधान भी है ओर अनेक जटिल व असाध्य रोगों का निदान भी।

**योग एक विज्ञान है, एक प्रयोगिक विज्ञान है। यह एक पूर्ण चिकित्सा**

पद्धति भी है, एक पूर्ण मार्ग है। योग स्वंय की क्षमता से अवगत कराता है, स्वयं में निदान तलाशने का मार्ग सुझाता है। नियमित योगाभ्यास से हम अपने जीवन को स्वस्थ और खुशहाल बना सकते हैं। योगाभ्यास करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण सकारात्मक होता है और वह उद्देश्यपूर्ण और स्वस्थ जीवन व्यतीत करता है। शारीरिक स्तर पर योगाभ्यास से मनुष्य निरोग होता है। वह ऐसी स्थिति में जा सकता है कि भविष्य में कभी कोई रोग ही न हो। योग से शरीर में प्रतिरोध क्षमता का विकास होता है। योग से शारीरिक बल में वृद्धि होती है। प्राणायाम शारीरिक बल की वृद्धि का बहुत ही प्रबल साधन है। **विश्व प्रसिद्ध पहलवान राममूर्ति जी ने अपने अथाह बल का कारण प्राणायाम बतलाया था।** इसके अतिरिक्त योग से आयु बढ़ती है और शारीरिक सौंदर्य की प्राप्ति होती है। साथ ही योग से प्राण-शक्ति की वृद्धि होने लगती है। इससे इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है और उनके दोष दूर होते हैं। मानसिक स्तर पर योग करने से मन की एकाग्रता बढ़ती है और ज्यों-ज्यों मन एकाग्र होता जाता है, त्यों-त्यों मन की शक्ति बढ़ती जाती है। यह योग विज्ञान का एक सिद्धान्त है। बौद्धिक स्तर पर मनुष्य योगाभ्यास से अपनी मानसिक क्षमता की वृद्धि कर सकता है। विशेष स्तर पर योग करने पर मनुष्य की बुद्धि तीव्र, सूक्ष्म, पवित्र और प्रतिभाशाली बन जाती है जो कि कठिन और सूक्ष्म विषयों को शीघ्र ग्रहण करती है। **श्री अरविन्द ने कहा है कि प्राणायाम करने से मेरी कविता लिखने की क्षमता बेहद बढ़ गई थी। पहले जहाँ महीने में दो सौ पंक्तियाँ लिख पाता था, वहाँ अब इतनी पंक्तियाँ आधे घण्टे में लिखने लगा।** सामाजिक स्तरपर अष्टांग योग के प्रथम अंग यम के पालन से समाज में सुख और शान्ति की वृद्धि होती हैं।

वर्तमान समय में हुए चिकित्सा अनुसन्धानों ने योग से होने वाले अनेक शारीरिक और मानसिक लाभों को प्रकट किया हैं। योग से होने वाले प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं-

१. योग शरीरिक स्वास्थ्य, मांसपेशियाँ, हड्डियाँ, स्नायुतंत्र, श्वसन प्रणाली, रक्त संचालन प्रणाली, कंकाल तंत्र को सुचारू रूप से कार्य करने और ह्रदय तथा नाड़ियों के स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है।

२. योग हाइपरटेंशन (उच्च रक्त चाप), मधुमेह, दमा, मोटापा, कैंसर, स्त्रियों के अनियमित मासिक धर्म, जीवन शैली सम्बन्धी कई प्रकार के रोग विकारों के प्रबन्धन में लाभकर है।

३. योग अवसाद, तनाव, क्रोध, संताप, लोभ, चिन्ता, भय, असुरक्षा को कम करने में सहायक है। इससे आधिदैविक दु:ख जो वाह्य अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है, से त्राण पाना भी संभव है।

**अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के हार्ट सर्जन डॉ. नरेश त्रेहन योग को वैज्ञानिक दृष्टि के अनुरूप मानते हुए कहते हैं कि कोई व्यक्ति स्वस्थ ( Healthy ) है, इस बात की ३ कसौटियाँ हैं** –

१. वह तनाव मुक्त (Tention free) हो। योगासन, प्राणायाम और ध्यान से तनाव मुक्त होने में मदद मिलती है। विश्व में अनेक शोध अध्ययनों से अब यह बात साबित हो चुकी है कि तनाव का शरीर पर बेहद खराब प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क और शरीर के मध्य सीधा सम्बन्ध है। मस्तिष्क तनावग्रस्त है, तो शरीर भी कालान्तर में रोगग्रस्त हो जाएगा। तनाव से हाई ब्लड प्रेशर, हृदय रोग, डायबिटीज आदि रोग होने का जोखिम बढ़ जाता है। योग से मस्तिष्क तनाव मुक्त होता है और शरीर स्वस्थ रहता है। ऐसी स्थिति में रोगों की रोकथाम काफी हद तक संभव है।

२. उम्र बढ़ने के साथ शरीर के आन्तरिक अंग कमजोर होने लगते हैं, जिसे एजिंग प्रोसेस कहा जाता है। योग आन्तरिक अंगो को सशक्त करता है।

३. योग से कार्डियो वैस्कुलर सिस्टम (हृदय और रक्त वाहिनियों का तंत्र) सशक्त होता है। इन कसौटियों पर योग वैज्ञानिक दृष्टि से खरा उतरता हैं।

चिकित्सा विज्ञान बीमारियों को ठीक करती है स्वास्थ्य को नहीं। योग स्वास्थ्य को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। योगाभ्यास में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, बंध एवं मुद्रा, षटकर्म, युक्ताहार, मंत्र–जप, युक्तकर्म आदि साधनाओं का अभ्यास सबसे अधिक किया जाता है।

योग का प्रथम अंग है यम। **यम** का तात्पर्य **नैतिक सदाचार** है। इसके निम्नलिखित अंग है–

१. **अहिंसा** अर्थात्, किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना।

२. **सत्य** अर्थात् किसी से किसी तरह का झूठ नहीं बोलना।

३. **अस्तेय** अर्थात् चोरी नहीं करना।

४. **अपरिग्रह** अर्थात् लोभ वश अनावश्यक वस्तु ग्रहण नहीं करना।

५. **ब्रह्मचर्य** अर्थात् विषय वासना पर नियंत्रण। इसका तात्पर्य यह भी है कि यदि व्यक्ति विवाहित है तो अपने जीवन साथी के प्रति पूरी तरह ईमानदार रहना ब्रह्मचर्य है। जो काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, उसका मन या शरीर सबल नहीं रह सकता। इसी तरह जब तक मनुष्य का मन पाप-वासनाओं से भरा और चंचल रहता है तब तक वह किसी विषय पर चित्त एकाग्र नहीं कर सकता। इसलिए योग या समाधि के साधक को सभी आसक्तियों और कुप्रवृत्तियों से विरत होना आवश्यक है।

**नियम** का तात्पर्य **धर्माचरण** से है। इसके निम्नलिखित अंग है। (१) **शौच** वाह्य शुद्धि अर्थात् शारीरिक शुद्धि, जैसे स्नान और पवित्र भोजन द्वारा तथा आभ्यंतर शुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता आदि के द्वारा (२) **संतोष** अर्थात् उचित प्रयास से जितना ही प्राप्त हो उससे संतुष्ट रहना। (३) **तप** जैसे सर्दी-गर्मी आदि सहने का अभ्यास, कठिन व्रत का पालन करना आदि। (४) **स्वाध्याय यानी** नियम पूर्वक धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करना। (५) **ईश्वर-प्राणिधान** ईश्वर का ध्यान और उन पर अपने को छोड़ देना।

**आसन** शरीर का साधन है। 'आसन' शरीर की वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति अपने शरीर और मन के साथ शान्त, स्थिर एवं सुख से रह सके। **पतंजलि** 'योगसूत्र' में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है 'स्थिरं सुखं आसमन्'। आसनों का अभ्यास बिना कप्ट के एक ही स्थिति में अधिक से अधिक समय तक बैठने की क्षमता को बढ़ाने के लिए किया जाता है-उदाहरणार्थ ध्यान के समय।

शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विकस में भी आसनों का विशेष महत्व है। योगासन शरीर को नीरोग तथा सबल बनाये रखने के लिए उत्तम साधन है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आसन वरदान स्वरूप है क्योंकि इनमें शरीर के समस्त भागों पर प्रभाव पड़ता है, और वह अपने कार्य सुचारू रूप से करते हैं। योगासन से शरीर के प्रत्येक अंग का व्यायाम होता है, जिससे शरीर पुष्ट, स्वस्थ एंव सुदृढ़ बनता हैं। मांसपेशियाँ, हड्डियाँ, स्नायुमंडल, ग्रन्थि प्रणाली, श्वसन प्रणाली, उत्सर्जन प्रणाली, रक्त संचालन प्रणाली सभी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, एक दूसरे की सहयोगी हैं। आसन शरीर के पाँच मुख्यांगों, स्नायुतंत्र रक्ताभिगमन तंत्र, श्वासोच्छवास तंत्र की क्रियाओं का व्यवस्थित रूप से संचालन करते हैं, जिससे शरीर पूर्णत: स्वस्थ बना रहता है और कोई रोग नहीं होने पाता। इन आसनों के द्वारा सभी अंगो, विशेषकर स्नायुमंडल इस तरह वश में किये जा सकते हैं कि

वे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकें। चित्त की एकाग्रता के लिए शरीर का अनुशासन भी आवश्यक है जितना मन का। यदि शरीर रोगादि बाधाओं से पूर्णत: मुक्त नहीं रहे तो समाधि लगाना बड़ा ही कठिन होगा। शरीर और मन को शुद्ध तथा सबल बनाने के लिए तथा दीर्घायु प्राप्त करने में योग में अनेक प्रकार के नियम बतलाए गए हैं। आसन अनेक प्रकार के हैं जैसे पद्मासन, सिद्धासन, शीर्षासन, गरूड़ासन, मयूरासन, भद्रासन, वीरासन, पवनमुक्त आसन आदि। आसन शरीर को लोचदार तथा परिवर्तित वातारण के अनुकूल ढालने के योग्य बनाते हैं। पाचन क्रिया तीव्र हो जाती है, उचित मात्रा में पाचक रस तैयार होता है। फलस्वरूप इनके द्वारा नियंत्रित आंतरिक अंगों के कार्य में संतुलन आ जाता है।

आसनों से शरीर की सबसे महत्वपूर्ण अन्त:स्रावी ग्रन्थि प्रणाली नियंत्रित एवं सुव्यवस्थित होती है। परिणामत: समस्त ग्रन्थियों से उचित मात्रा में रस का स्राव होने लगता है। इसका सुप्रभाव हमारे शरीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ जीवन के प्रति हमारे मानसिक दृष्टिकोण पर भी पड़ता है। यदि किसी एक ग्रन्थि का भी कार्य ठीक से संचालित न हो तो इसका कुप्रभाव स्वास्थ्य पर स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिए इस प्रणाली को सुचारू रूप से संचालित रखना आवश्यक है। रोग पीड़ित अंगो को निरोग कर पुनर्जीवित कर सामान्य कार्य के योग्य बनाया जा सकता है। इस प्रकार आसन रोग विकारों को नष्ट करते हैं, रोगों से रक्षा करते हैं, शरीर को निरोग, स्वस्थ एवं बलिष्ठ बनाए रखते हैं। योगासन श्वास क्रिया का नियमन करते हैं, हृदय और फेफड़ों को बल देते हैं, रक्त को शुद्ध करते हैं और मन में स्थिरता पैदा कर संकल्प शक्ति को बढ़ाते हैं। आसनों से नेत्रों की ज्योति बढ़ती है।

आसन मन को शक्तिशाली बनाता है और दु:ख-दर्द सहन करने की शक्ति प्रदान करता है। दृढ़ता और एकाग्रता की शक्ति विकसित करता है। आसनों के नियमित अभ्यास से मस्तिष्क शक्तिशाली एवं संतुलित बना रहता है। बिना विचलित हुए शान्त मन से संसार के दु:ख, चिन्ताओं एंव समस्याओं का सामना कर सकता है।

आसन का कार्य समाधि की ओर अग्रसर करने वाले उच्च यौगिक अभ्यास-प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि के लिए शरीर को स्थिर बनाना है। हठयोग का गहन सम्बन्ध शरीर को उच्च आध्यात्मिक प्रक्रिया के लिए तैयार करने से है। इसमें आसनों द्वारा शरीर शुद्धि को विशेष महत्व दिया गया है। आसनों में दक्षता प्राप्त करने से आध्यात्मिक शक्ति का जागरण सम्भव होता है। आसन आध्यात्मिक मार्ग का एक सोपान है।

**आसन और व्यायाम में अन्तर है-**आसनों का महत्व शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व आत्मिक सभी क्षेत्रों के विकास में है। अन्य व्यायाम पद्धतियाँ केवल वाह्य शरीर को ही प्रभावित करते हैं, जबकि योगासन मानव का चहुँमुखी विकास करते हैं। योगासन से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास होता है। व्यायामों का प्रभाव केवल शरीर की मांसपेशियों एवं हड्डियों पर ही होता है। शारीरिक व्यायाम शीघ्रतापूर्वक एवं अधिक श्वास-प्रश्वास की क्रिया के साथ किया जाता है। शरीर को पुष्ट करने वाले व्यायाम, भार उठाने वाली प्रणालियाँ स्वस्थ व्यक्तियों में मांस के विकास हेतु उपयुक्त हैं। विकसित मांसपेशियों के लिए अधिक भोजन और रक्त आपूर्ति की आवश्यकता पड़ती है। परिणामतः हृदय को अधिक कार्य करना पड़ता है तथा श्वास-प्रश्वास प्रणाली का कार्य भी अपेक्षाकृत बढ़ जाता है। इस प्रकार प्राण शक्ति का ह्रास होता है। इन व्यायामों के अभ्यासोपरान्त बढ़ती उम्र के साथ उसके विभिन्न अंगों की कार्य प्रणाली मंद पड़ जाती हैं। हड्डियों के सन्धि स्थल में स्थित कोमल अस्थियों के अधिक प्रयोग के कारण शरीर के विभिन्न अंगों की लोच समाप्त होने लगती है। असामान्य रूप से विकसित मांसपेशियों में स्थित तंतु चर्बी के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और शरीर-गठन के अभ्यासों का त्याग कर देने पर मांसपेशियों के स्थान पर तेजी से चर्बी बढ़ने लगती हैं। व्यायाम की अन्य विधियाँ शरीर में विषैले पदार्थों की वृद्धि करती हैं जबकि योगासनों का अभ्यास इनकी मात्रा को कम करता है। आसन करने से शक्तियों में वृद्धि होती है जबकि व्यायाम से शक्ति घटती है। आसन का अभ्यास स्वस्थ, अस्वस्थ, युवा, वृद्ध, बच्चे, बीमार या दुर्बल सभी कर सकते हैं लेकिन श्रमसाध्य व्यायाम तथा वजन उठाने वाले और शरीर गठन की अन्य विधियों का अभ्यास बीमार या दुर्बल, वृद्ध या बच्चे निश्चित रूप से नहीं कर सकते।

आसनों का अभ्यास धीरे-धीरे आराम से व एकाग्रता के साथ किया जाता है जिसका प्रभाव वाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही संस्थानों पर पड़ता है। अतः स्नायु मंडल, अंतःस्रावी ग्रन्थियाँ और आन्तरिक अंग तथा मांसपेशियाँ सुचारु रूप से कार्य करने लगती हैं। इनका प्रभाव शरीर एवं मन पर पड़ता है जिससे अनेक दुर्बलताओं से मुक्ति मिलती है। साथ ही एकाग्रता एवं ध्यान के लिए ये बहुत उपयोगी हैं। आसन का सम्बन्ध अन्नमय कोष से है। आसन करने से अन्नमय कोष, सुन्दर और स्वस्थ बनता है। शरीर निरोगी व तेजस्वी बनता है।

योग में ऐसे अनेक आसन हैं जिनको अपनाने से कई बीमारियाँ समाप्त हो

जाती हैं और खतरनाक बीमारियों का प्रभाव भी कम हो जाता है। आसनों में शीर्षासन का बहुत महत्व है। इस पर सर्वप्रथम वैज्ञानिक अध्ययन **पोलैण्ड के 'थर्ड क्लीनिक ऑफ मेडिसिन के डायरेक्टर प्रो. जुलियन** ने किया। इसके लिए एक्सरे व ई.सी.जी. आदि उपकरणों की मदद ली गई। उन्होंने रोग निवारक क्षमता बढ़ाने के साथ ही इसके रक्त, फेफड़े व हृदय पर आश्चर्यजनक प्रभाव देखे। **'फर्स्ट कान्फ्रेन्स आन द एप्लिकेशन आफ योगा इन रिहेबिलीटेंशन थिरेपी'** के अन्तर्गत चेकोस्लोवाकिया में भुजंगासन पर वैज्ञानिक शोध हुआ व इसे रक्तचाप व मानसिक तनाव दूर करने में लाभदायक पाया।

**अस्ट्रियन अनुसंधान परिषद के स्टीफन सैडरसन** ने लम्बे अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि यदि आसनों को नियमित रूप से किया जाय तो व्यक्ति स्वस्थ जीवन जी सकता है। सैडरसन ने आसन-प्राणायाम द्वारा अनेक दमाग्रस्त रोगियों को ठीक किया है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार मधुमेह, मिर्गी, उच्च रक्तचाप एवं हृदय सम्बन्धी प्राणघातक रोगों को भी योगाभ्यास से ठीक किया जा सकता है।

भारत में मेडिकल कालेज मद्रास के डॉ. लक्ष्मीकान्त ने हृदय रोगियों पर योगासनों के प्रभाव का विशेष अध्ययन किया है। इस सन्दर्भ में हलासन, सर्वांगासन व विपरीतकरण मुद्रा उपयोगी पायी गयी है। इसी तरह प्रो. जूलियन ने शवासन को हृदय रोग में भी विशेष उपयोगी पाया। विशेष आसनों को अपनाते हुए एक वर्ष के अन्तराल में तकलीफें काफी कम हो गई थीं। शोधकर्ताओं ने आर्थराइटिस में भी योगासनों से विशेष लाभ अनुभव किया है। वक्रासन हमें अनेक बीमारियों से बचाता है।

आज कम्प्यूटर की दुनिया में दिनभर उसके सामने बैठे काम करने से अनेक लोगों को कमर दर्द एवं गर्दन दर्द की शिकायत एक आम बात हो गई है, ऐसे में शलभासन तथा ताड़ासन हमें दर्द निवारक दवा से मुक्ति दिलाता है। पवनमुक्तासन अपने नाम के अनुरूप पेट से गैस की समस्या को दूर करता है। गठिया की समस्या को मेरूदंण्डासन दूर करता है।

**अमेरिका** के **'यौगिक ट्रीटमेन्ट'** ने आसनों की चिकित्सकीय उपयोगिता पर महत्वपूर्ण प्रयोग किए हैं। इस सन्दर्भ में रूस के चिकित्सा वैज्ञानिकों ने भी व्यापक अनुसन्धान किया है। **सेन्ट्रल क्लीनिकल हास्पिटल मास्को के बालरोग विशेषज्ञ**

**डॉ अनातोली वैस्टकाई** रोगियों को साधारण आसनो का ही उपचार बताते हैं। भारत में भी आसनो पर वैज्ञानिक अध्ययन हुआ है। इस सन्दर्भ में मुम्बई के डॉ. के.के. दत्ते, पटना के डॉ. श्रीनिवास, मद्रास के डॉ. लक्ष्मीकान्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अपने प्रयोगों के आधार पर आधुनिक विज्ञान आसनो को पूर्णतः वैज्ञानिक मानता है, जिससे आश्चर्यजनक लाभ उठाये जा सकते हैं, जो व्यायाम से संभव नहीं है।

**प्राणायाम भी** स्वास्थ्य संवर्द्धन की दृष्टि से बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। प्राणायाम का अर्थ है श्वास का नियंत्रण। **पतंजलि** ने प्राणायाम को परिभाषित करते हुए कहा है **''तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।''**[१२] अर्थात श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति को रोकने एवं नियंत्रित करने की प्रक्रिया ही प्राणायाम है। प्राणायाम की क्रिया के ३ अंग है-(१) पूरक (पूरा श्वास भीतर खींचना) (२) कुंभक (श्वास को भीतर रोकना) और (३) रेचक (नियमित विधि से श्वास छोड़ना)। नियंत्रित रूप से श्वासग्रहण, धारण तथा त्याग को प्राणायाम कहते हैं। प्राण + आयाम, प्राण माने वैश्विक जीवन शक्ति और आयाम माने उस जीवन शक्ति को एक अनुशासन देना। इस जीवन शक्ति के जरिये हमारा शरीर और मन एक साथ जुड़ा है। अगर प्राण न हो तो शरीर और मन जुड़े नहीं रहेंगे। मृत्यु के बाद यही होता है। प्राणायाम का प्राणमय-कोष से सम्बन्ध है। प्राणायाम करने से प्राणमय कोष की वृद्धि होती है और प्राण शुद्धि होती है। प्राणायाम के अन्तर्गत भस्त्रिका, कपालभाति, अनुलोम विलोम, उज्जायी, शीतली आदि आते हैं। क्रियायोग प्राणायाम की एक विशेष विधि है।

'श्वास के अभ्यास से हृदय पुष्ट होता है और उसमें बल आता है', इसे चिकित्सा विज्ञान भी स्वीकार करता है। योग इस दिशा में और भी आगे बढ़ता है और चित्त एकाग्र साधन के लिए प्राणायाम का निर्देश करता है क्योंकि प्राणायाम के द्वारा शरीर और मन में दृढ़ता आती है। जब तक श्वास की क्रिया चलती रहती है तब तक चित्त भी उसके साथ चंचल रहता है। जब श्वास वायु की गति स्थगित हो जाती है तब मन भी निस्पन्द या स्थिर हो जाता है। इस तरह प्राणायाम के अभ्यास से योगी श्वास का नियंत्रण कर समाधि की ओर बढ़ता है।

आसन की ही तरह आधुनिक विज्ञान ने प्राणायाम को भी कसौटियों पर कसा है व स्वास्थ्य संवर्द्धन की दृष्टि से इसके आश्चर्यजनक उपयोगिता को स्वीकार किया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भी इस पर व्यापक प्रयोग हुए। **अमेरिका में**

**श्री टामसन** ने फौजियों को युद्ध के योग्य व सशक्त बनाने में इसके सफल प्रयोग किए। अपने असाधारण लाभ के कारण यह प्रचलित हो गया। **प्रख्यात वैज्ञानिक डॉ. थ्रिसे ब्रूजे ने** इसके प्रभावों को गहन अध्ययन किया व स्पष्ट किया कि इसके लोभो को वैज्ञानिक उपकरणों से मापा जा सकता है। **सुविख्यात चिकित्साविज्ञानी रोमार्ड ने प्रयोगों द्वारा दिखाया कि इससे फेफड़े का आयतन (वाटल केपोसिटी) बढ़ता है जिसका जीवनी शक्ति से सीधा सम्बन्ध है। चिकित्साविज्ञानी जे.एफ. नन** ने अपनी **शोधकृति 'एप्लाइड रेस्पीरेटरी फिजियोलाजी'** में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा कि **प्राणायाम से फेफड़े की क्षमता में असाधारण वृद्धि होती है।** इससे न केवल आक्सीजन के अवशोषण करने की क्षमता बढ़ती है, बल्कि प्राणवायु की अधिकाधिक वृद्धि के साथ शरीर एवं मन की क्षमताओं में भी भारी वृद्धि होती हैं। **वैज्ञानिक विलियम के अनुसार** श्वास प्रक्रिया का सीधा प्रभाव मनः स्थिति पर पड़ता है। इसी तरह **डॉ. फेरिंग ने 'पर्सनल हाइजीन'** में श्वास-प्रश्वास को भावनात्मक स्तर के उतार-चढ़ाव से जोड़ा है। उन्होंने प्राणायाम को मानसिक स्वास्थ्य में लाभदायक माना है। इस तरह प्राणायाम पर अनेकानेक वैज्ञानिक प्रयोग चल रहे हैं। वे इसके नये-नये पक्षों को उजागर कर रहे हैं।

मानसिक-शारीरिक रोग मन की गहराई में पलते हैं व शरीर के धरातल पर प्रकट होते हैं। इस श्रेणी के रोगों में कुछ हैं - हाईपरटेंशन, मधुमेह, एंग्जाइटी न्यूरोसिस, कैंसर, कोरोनरी (हार्ट अटैक) थाम्ब्रोसिस, अल्सर आदि। आधुनिक चिकित्सा पद्धति मात्र शारीरिक लक्षणों के आधार पर इनका उपचार करता है व इनके निदान में आंशिक रूप से ही सफल रहता है। इस सन्दर्भ में किये गये प्रयोगों के तहत यौगिक क्रियाओं को आशाजनक सफलता मिली हैं।

हाइपरटेंशन (उच्च रक्तचाप) आज का सर्वाधिक प्रचलित रोग है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के तहत इसका कोई सटीक इलाज नहीं है। इसके अन्तर्गत केटकोलामीन स्रोवों की अधिकता रहती है। के.एन. उडप्पा ने अपने गहन शोध -अन्वेषण के अन्तर्गत शवासन की सरल यौगिक प्रक्रिया द्वारा इसका सन्तोषजनक उपचार पाया है। कुछ अन्य आसनो (शीर्षासन, भुजंगासन आदि) तथा प्राणायामों (सूर्य भेदन, चन्द्र भेदन, उज्जायी) को साथ जोड़ने पर इसके अद्‌भुत परिणाम देखे गए हैं।

कोरोनरी थ्राम्बोसिस, हाइपरटेंशन की विकसित अवस्था है। इसके प्रारम्भिक स्थिति में शवासन के नियमित अभ्यास को उपयोगी पाया गया है। इसी तरह हृदय

रोगियों पर भी कुछ आरम्भिक परीक्षण किए गये व बहुत उत्साह जनक परिणाम प्राप्त हुए। मेडिकल कालेज, मद्रास के डॉ. लक्ष्मीकान्त ने हृदय रोगियों पर योगासनों के प्रभाव का विशेष अध्ययन किया। इस सन्दर्भ में सर्वांगासन, हलासन व विपरीतकरणी मुद्रा उपयोगी पाई गई है। इसी तरह प्रो. जूलियन ने शवासन को हृदय रोग में भी विशेष उपयोगी पाया है। विशेष आसनों को अपनाते हुए एक वर्ष के अन्तराल में तकलीफें काफी कम हो गई थीं। **सुप्रसिद्ध हार्ट सर्जन डॉ. नरेश त्रेहन** के अनुसार योग से मस्तिष्क तनावमुक्त होता है व तन स्वस्थ रहता है। ऐसी स्थिति में हृदय रोगों की रोकथाम काफी हद तक संभव है। उनका कहना है कि जिसे हार्ट अटैक हो चुका है वह कपालभाति को छोड़कर अन्य प्राणायाम कर सकता है। उनका कहना है कि बाईपास सर्जरी करवा चुके लोगों को इस सन्दर्भ में कार्डियोलाजिस्ट से परामर्श लेना चाहिए। वे कहते हैं कि योग के साथ हमें अपनी डाइट पर भी ध्यान देना होगा। खान-पान में फलों, सब्जियों को वरीयता देनी होगी। फास्ट फूड व स्ट्रीट फूड से बचना होगा।

एंग्जाइटी न्यूरोसिस एक अन्य प्रचलित व्याधि है। यह प्रायः चिन्ता करने वाले व्यक्ति में पनपती है। इसके अन्तर्गत रक्त में विषाक्त द्रव्यों की मात्रा बढ़ी-चढ़ी रहती है। इसके उपचार में आसन (शलभासन, सर्वांगासन, हलासन, पद्मासन आदि) तथा प्राणायाम (उज्जायी, अनुलोम विलोम) को विशेष लाभदायक पाया गया है। इसके अन्तर्गत प्रारम्भिक योगाभ्यास से ६ महीने में ही अद्भुत परिणाम देखे गए हैं।

आज जीवन शैली से सम्बन्धित रोग जैसे डायबिटीज, मोटापा और ब्लड प्रेशर तेजी से बढ़ रहे हैं। वर्तमान समय में मधुमेह (डायबिटीज) एक बड़ी स्वास्थ्य समस्या है। दुनिया भर में सबसे ज्यादा मधुमेह रोगी भारत में ही हैं। कई अध्ययनों से पता चला है कि योग मधुमेह के रोगियों के लिए काफी लाभकारी है।

योग शरीर की हर कोशिका को प्रभावित करता है। योग करने से एड्रीनेलाइन और कार्टीसोल नामक रयासनों के उत्सर्जन में कमी आती है। इस कारण मानसिक तनाव नियंत्रण में रहता है। डायबिटीज के साथ जी रहे लोगों के लिए तो यह दृष्टिकोण बहुत ही लाभदायक है। इसी के साथ योग के आसन डायबिटीज के साथ जी रहे लोगों की सबसे बुनियादी जरूरत आक्सीजन इनटेक को पूरा करते हैं। शरीर को आक्सीजन की यह बढ़ी आपूर्ति इंसुलिन की शुगर को तोड़ने में सहायता करती हैं।

योग के अन्तर्गत योगासन, प्राणायाम और ध्यान (मेडीटेशन) तीनों को ही शामिल किया जाता है। योग के तीनों अंग डायबिटीज के साथ जी रहे लोगों के लिए अत्यन्त लाभप्रद है। ये लाभ इस प्रकार हैं–

१. इंसुलिन रेजिस्टेंस की स्थिति खत्म हो जाती है। इस प्रकार इंसुलिन असरकारक हो जाती हैं।

२. योग करने से वजन नियंत्रित होता है जिससे ब्लड शुगर नियंत्रित रहता है। मोटापा ब्लड शुगर को अनियंत्रित कर देता है।

३. तनाव से ब्लड शुगर बढ़ता है लेकिन योग करने से तनाव कम होता है।

४. मंडूक आसन से ब्लड शुगर को नियंत्रित करने में मदद मिलती है।

५. कपालभाति से पैन्क्रियाज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इस कारण पर्याप्त मात्रा में इन्सुलिन निकलती है।

६. मधुमेह के इलाज में भस्त्रिका प्राणायाम को उसमें उपयोगी पाया गया है। इसके द्वारा एक में केटकोलीमान की मात्रा घटती है, जो रक्त शर्करा बढ़ाने में जिम्मेदार होता है। **यौगिक ट्रीटमेन्ट सेन्टर ने ३०० मधुमेह रोगियों पर विशेष अध्ययन किया है। इसमें रोगियों को योगासनों व प्रणायाम के साथ सन्तुलित आहार का उपचार दिया गया। तीन माह बाद रोगियों में आशातीत परिवर्तन देखे गए। ५० प्रतिशत रोगियों के रक्त शर्करा में काफी कमी हो गई थी।**

**कैन्सर** जैसे गम्भीर रोग के इलाज में भी योग की महत्वपूर्ण भूमिका पाई गई है। **अमेरिका के एम. हाल ने** इस सन्दर्भ में विशेष शोध कार्य किया है। उनके अनुसार **यौगिक क्रियाओं द्वारा कैंसर से लड़ने वाली कुछ विशिष्ट कोशिकाओं जैसे–टी. एण्ड बी. लिम्फोसाइट की सक्रियता असाधारण रूप से बढ़ जाती है। ऐसे ही निष्कर्ष एम. एरिक्शन एवं ई. रोसी ने सजेस्टिव थेरेपी एक्सप्लोरेटरी केसबुक नामक शोध कृति में प्रस्तुत किए हैं।**

एक शोध में कहा गया है कि **यौगिक क्रियाए आसन व ध्यान आदि हमारे डी.एन.ए. में बदलाव लाती हैं जिससे कैंसर जैसे खतरनाक बीमारी पर काबू पाने में मदद मिलती है।** शोधकर्ताओं का कहना है कि शरीर और मस्तिष्क में सामंजस्य बढ़ाने वाली क्रियाएं सूजन बढने वाले जींस को सक्रिय करने वाले

अणुओं का उत्पादन कम कर देती हैं। सूजन को कैंसर, उम्र बढ़ने और खराब मानसिक स्वास्थ्य से जोड़ा जाता रहा है। **यूनिवर्सिटी ऑफ कोवेंट्री** के प्रमुख शोधकर्ता **इवाना ब्यूरिक** का कहना है कि दुनिया में बड़ी संख्या में लोग योग-ध्यान से लाभान्वित हो रहे हैं।

**इन्डियन जर्नल ऑफ सर्जिकल आन्कोलाजी के अंक में विवेकानन्द संस्थान के चांसलर एच.आर. नागेन्द्र** और उनके सहयोगियों का एक पत्र छपा है। इसमें कहा गया है कि अब समय आ गया है जब योग को कैंसर की उपचार प्रक्रिया का एक सामान्य हिस्सा बना दिया जाए। यह उपचार से सम्बन्धित थकावट, नींद में आने वाली गड़बड़ियों, कीमोथेरेपी के बाद आने वाली चक्कर और दर्द को कम करता है। इस पत्र के अनुसार यह पाया गया है कि सर्जरी के बाद प्रतिरोधी तंत्र को नियंत्रित करने में योग सहायक सिद्ध होता है। रेडियोथेरेपी से डी.एन.ए. को पहुँचने वाले नुकसान को भी यह घटाता है।

आसन प्राणायाम के साथ ध्यान की प्रक्रिया को भी जोड़ने से योग समग्र स्वास्थ्य का वरदान बन जाता है। तनावजन्य रोगों एवं मनोरोगों की बाढ़ आज थमने का नाम नहीं ले रही है। ऐसे में ध्यान एक प्रभावी उपचार के रूप में सामने आया है।

**महर्षि पतंजलि** ध्यान को परिभाषित करते हुए कहते हैं **''तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।''**[१३]

अर्थात् ध्येय वस्तु के ज्ञान की एकतानता का नाम ध्यान है।

ध्यान का अर्थ है ध्येय विषय का निरन्तर मनन। अर्थात उसी विषय को लेकर विचार का अनवच्छिन्न (लगातार) प्रवाह। इसके द्वारा विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहले भिन्न-भिन्न अंशो या स्वरूपों का बोध होता है तदन्तर अविराम ध्यान के द्वारा संपूर्ण चित्र आता है और उस वस्तु के वास्तविक रूप का दर्शन हो जाता हैं। इस तरह योगी के मन में ध्यान के द्वारा ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

मन जितना शक्तिशाली होता है, उतना ही चंचल और अस्थिर भी होता है और इस चंचलता को नियंत्रित करने का उत्तम साधन है ध्यानयोग। योग के अनुसार जिसका मन रोगी व कमजोर है, उसका शरीर भी रोगी व कमजोर होगा। मानसिक समस्याओं में अवसाद, तनाव, चिड़चिड़ापन, क्रोध, मोह, लोभ, पार्किन्सन, एल्जाइमर्स,

सिजोफ्रेनिया, भय व असुरक्षा आदि आते हैं। नियमित योगाभ्यास से न सिर्फ उन पर सकारात्मक असर होता है बल्कि मानसिक रोग ठीक होते हैं। ध्यान का नियमित अभ्यास तनावजन्य व्याधियों का सफल उपचार करता है। इम्यून तंत्र को सशक्त कर शरीर को स्वस्थ बनाता है व शान्त तथा स्थिर मनोभूमि का निर्माण कर मानसिक स्वास्थ्य को सुनिश्चित करता है।

**डयूक यूनिवर्सिटी के शोध में ध्यान व आसन दोनो ही रूपों में योग का मानसिक समस्याओं पर सकारात्मक प्रभाव देखा गया है।** डयूक यूनिवर्सिटी के डयूक स्कूल ऑफ मेडिसिन में साइकायट्री विभाग के एक शोध के अनुसार योगमुद्राएं रक्त संचार में सुधार करती हैं। इससे शरीर में एड्रोफिन्स हार्मोन का स्राव बढ़ जाता है जो फोकस और सजगता को बढ़ाता है। शोध के परिणाम इस प्रकार रहे–

**डिप्रेशन** – डिप्रेशन के शिकार ६९ वयस्क लोगों में तीन माह के योगाभ्यास के बाद २० प्रतिशत व छः माह के बाद ४० प्रतिशत सुधार देखने को मिला है। अल्कोहल का सेवन छोड़ चुके लोगों पर परिणाम अधिक सकारात्मक रहे।

**इनसोमनिया** (अनिद्रा) – सप्ताह में ३ बार छः माह तक योग करने पर अनिद्रा के शिकार १३९ वरिष्ठ नागरिकों में २८ से ३० प्रतिशत तक सुधार देखने को मिला। उनमें अन्य की तुलना में अवसाद भी कम देखने को मिला।

**स्मरणशक्ति** (याददाश्त) – ८ सप्ताह तक योगाभ्यास कर रहे ३० वयस्कों में अल्पकालिक याददास्त, फोकस क्षमता व मल्टीटास्किंग में काफी सुधार देखने को मिला।

**ओवरइटिंग** – १२ सप्ताह के योगाभ्यास के बाद ९० मोटापे की शिकार महिलाओं में अधिक खाने की आदत में ५० प्रतिशत तक का सुधार देखा गया। शोध के अनुसार योगाभ्यास कर रही महिलाएं अन्य की तुलना में डाइट शेड्यूल का अधिक सतर्कता से पालन करती हैं।

**सिजोफ्रेनिया :** सिजोफ्रेनिया के शिकार १८ लोगों पर दो माह के अभ्यास के बाद उग्रता में कमी, उपचार के प्रति सकारात्मक रवैया आदि पक्षों पर ३० प्रतिशत का सुधार देखने को मिला।

**ध्यान** योग का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। ध्यान से शारीरिक, मानसिक व

आध्यात्मिक तीनों विकास होता है। ध्यान का अभ्यास, जो व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार एवं श्रेष्ठता की ओर ले जाता है, योग का सार माना गया है।

मुद्राओं का अभ्यास योग के महत्वपूर्ण अभ्यासों में विशेष स्थान रखता है। कुंडलिनी शक्ति के जागरण में मुद्राओं का अभ्यास सहायक है। अत: यह अभ्यास आसनों एवं प्राणायामों के अभ्यास से अधिक शक्तिशाली माना जाता है। हठयोग के ग्रन्थ **घेरण्ड संहिता** में योग के देवता शिवजी अपनी पत्नी एवं शिष्या पार्वती जी से कहते हैं- **''हे देवी, मैंने तुम्हें मुद्राओं का ज्ञान प्रदान किया है। केवल इनका ज्ञान ही सब सिद्धियों का दाता है''**[१४] **चित्त को प्रकट करने वाले किसी विशेष भाव को मुद्रा कहते हैं।** मुद्राओं का अभ्यास साधक को सूक्ष्य शरीर स्थित प्राण-शक्ति की तरंगों के प्रति जागरुक बनाता है। अभ्यासी इन शक्तियों पर चेतन रूप से नियंत्रण प्राप्त करता है। फलत: व्यक्ति अपने शरीर के किसी अंग में उसका प्रवाह ले जाने या अन्य व्यक्ति के शरीर में उसे पहुँचाने की क्षमता प्राप्त करता है। अधिकांश मुद्राओं का संगठन बंध, आसन एवं प्राणायाम के सम्मिलन से होता हैं। इनके अभ्यास से इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रत्याहार की स्थिति निर्मित करती हैं। चित्त को एकाग्र करने में भी ये अभ्यास समर्थ हैं। ये अभ्यास आध्यात्मिक साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं परन्तु इनसे मानसिक एवं शारीरिक लाभ की भी प्राप्ति होती है। घेरण्ड सहिता में मुद्राओं की सख्या २५ बताई गई है जिनमें महामुद्रा, ज्ञानमुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, विपरीतरणी मुद्रा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

**बंध** योगाभ्यास का छोटा परन्तु महत्वपूर्ण वर्ग हैं। इस अभ्यास के द्वारा व्यक्ति शरीर में विभिन्न अंगों तथा नाड़ियों को नियंत्रित करने में समर्थ होता हैं। बंध का शब्दिक अर्थ है बाँधना या कड़ा करना। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को धीरे, परन्तु शक्तिपूर्वक संकुचित एवं कड़ा किया जाता है। इससे आन्तरिक अंगों की मालिश होती है। रक्त का जमाव दूर होता है। यह अंग विशेष से सम्बन्धित नाड़ियों के कार्यो को नियमित करता है। परिणामत: शारीरिक कार्य एवं स्वास्थ्य में उन्नति होती है। बंधों में जालंधर बन्ध, उड्डियान बंध एवं महाबंध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

**षटकर्म** शरीर एवं मन शोधन का सुव्यवस्थित अभ्यास है जो शरीर में एकत्रित हुए विप को हटाने में सहायता करता है। शरीरगत् विषाक्त तत्व या अशुद्धियों को दूर किये बिना उच्च योगाभ्यास कठिन है। इस मूल उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्राचीन योगियों द्वारा ६ वैज्ञानिक व यौगिक क्रियाओं का विकास किया गया है। इन्हें ''षटकर्म'' कहते हैं। षटकर्म निम्न हैं-

१. **नेति** – नासिका–प्रदेश के शुद्धिकरण की विधि है।

२. **धौति** – मुँह से गुदाद्धार तक की सम्पूर्ण अन्न–नलिका के शुद्धिकरण की प्रक्रियाओं की श्रृंखला है। इसमे नेत्र, कर्ण, दाँत, जिह्वा, खोपड़ी की सरल सफाई की विधियाँ भी सम्मिलित हैं।

३. **नौलि** – उदरस्थ अंगों की मालिश तथा उन्हें बल प्रदान करने की शक्तिशाली विधि है।

४. **बस्ति** – बड़ी आँत की सफाई करने एवं उसमें सुचारूता लाने के लिए है।

५. **कपालभांति** – मस्तिष्क के अग्र प्रदेश की शुद्धता के लिए तीन क्रियाओं की सरल श्रृंखला है।

६. **त्रटक** – किसी वस्तु पर गहन एकाग्रता की क्रिया है। इससे एकाग्रता में वृद्धि होती है, सुशुप्त आत्मिक शक्तियों का विकास होता है तथा नेत्रों को शक्ति मिलती हैं।

**मंत्र** शक्तिसम्पन्न शब्द राशि हैं। मंत्र जाप सकारात्मक मानसिक उर्जा की सृष्टि करता है जो तनाव से मुक्ति में सहायक होता है। मंत्र जाप से हमारे शरीर के ७ चक्र–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञाचक्र एवं सहस्त्रार जाग्रत होते हैं। अधिकांश व्यक्तियों में ये आत्मिक केन्द्र सुशुप्त एवं निष्क्रिय होते हैं और शक्ति का अधिकांश भाग अप्रयुक्त रह जाता है। इन चक्रों पर ध्यान करने से शक्ति को **चक्रों** की ओर बहने की प्रेरणा मिलती है। इससे आत्मिक एवं मानसिक शरीर में स्थित शक्ति केन्द्रों के जागरण में सहायता मिलती है।

**यहाँ यह ध्यातव्य है कि किसी कुशल योग गुरु के निर्देशन–संरक्षण में ही योगाभ्यास करना चाहिए तभी उसका पूरा लाभ मिलेगा अन्यथा गलत तरीके से किये गये योगाभ्यास परेशानी का कारण बन सकते हैं।**

आज यह सुनिश्चित सत्य है कि योग अपने नाम के अनुरूप न केवल आत्मा एवं परमात्मा के संयोग का सूक्ष्म विज्ञान है, बल्कि यह स्वस्थ जीवन का समग्र विधान भी है। इसकी आसन, प्राणायाम व ध्यान जैसी प्रक्रियाएँ न केवल शारीरिक रोगों का उपचार करने में सक्षम है बल्कि मनोरोगों का भी सफल उपचार करती हैं एवं आत्म साक्षात्कार कराती हैं। आज के प्रदूषित वातावरण में योग एक ऐसी औषधि है जिसका कोई साइड इफेक्ट नहीं है। इसलिए योग को न केवल जीवन

शैली में शामिल करना होगा बल्कि इसे एक आन्दोलन का भी रूप देना होगा तभी एक स्वस्थ समाज और स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण हो सकेगा। योग के प्रति बढ़ती जागरुकता को देखते हुए यह संभव है।

## संदर्भ :


१. स्वामी विवेकानन्द : सरल राजयोग पृ.–६, रामकृष्ण मठ, धान्तोली नागपुर।

२. टाइम्स आफ इंडिया २१.०६.२०१५ पृ.–५ नई दिल्ली।

३. डॉ. सी.जी. जंग : उद्धृत The Universality of yoga : Paramhans Yoganand : पृ.–१०, योगदा सत्संग सोसाइटी आफ इंडिया, राँची।

४. ऋक संहिता, मण्डल १, सूक्त १८ मन्त्र ७।

५. श्वेताश्वतर उपनिषद् १/१४, गीता प्रेस, गोरखपुर।

६. श्रीमद्भगवद्गीता २/५०, गीता प्रेस, गोरखपुर।

७. श्रीमद्भगवद्गीता २/४८, गीता प्रेस, गोरखपुर।

८. श्रीमद्भगवद्गीता ६/४६, गीता प्रेस, गोरखपुर।

९. पतंजलि योगसूत्र १/२, गीता प्रेस, गोरखपुर।

१०. महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, पृ.–५५ बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी बिहार

११. पतंजलि योगसूत्र २/४६, गीता प्रेस, गोरखपुर।

१२. पतंजलि योगसूत्र २/४९, गीता प्रेस, गोरखपुर।

१३. पतंजलि योगसूत्र ३/२, गीता प्रेस, गोरखपुर।

१४. घेरण्ड संहिता : गीता प्रेस, गोरखपुर।

# गोरक्ष दर्शन का भौगोलिक विश्लेषण

**प्रो. वीरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव***

गुरु गोरखनाथ[1] एवं गोरक्ष दर्शन पर शोध करने की लेखक की न तो क्षमता है और न लक्ष्य है, यह एक सूचनात्मक भौगोलिक प्रयास है कि उपलब्ध ज्ञान के आधार पर गोरक्ष दर्शन का स्थान एवं काल में स्वरूप कहाँ और कैसा रहा। उन्हें साक्षात् शिव-शंकर का अवतार कहा जाता है।[2] महायोगी गुरु गोरखनाथ सामान्य मनुष्य के सत्य की खोज एवं अध्यात्म को मानव जीवन का सामान्य लक्ष्य मानते थे। महागुरु योग के हिमायती थे, आध्यात्मिक अनुशासन एवं आत्म-निश्चयी नैतिक जीवन को समाधि की अवस्था में पहुँचने का माध्यम मानते थे। जीवन में योग के महत्त्व को समझने की प्रेरणा देने वे कब-कब और कहाँ-कहाँ गये, अपनी चमत्कारी शक्तियों से जन-मानस को ईश्वरीय अस्तित्व का बोध कराते रहे, इसका ज्ञान हमें उपलब्ध नाथ साहित्य द्वारा होता है। नाथ साहित्य लोक हित में योग विद्या को अंगीकार करने का एक मिशन है। उपलब्ध विशाल साहित्य के आधार पर गोरक्ष दर्शन का भूगोल की पद्धति से पुनर्विलोकन कर अपने पाठकों की जिज्ञासा को प्रदीप्त करना एवं योग के सन्देश को सबल बनाना इस टिप्पणीकार का एक प्रयास है।

गुरु गोरखनाथ कब-कहाँ थे और क्या करते थे कि जिसकी छाप योगियों एवं उनके अनुयायियों के क्रिया-कलापों द्वारा पृथ्वी की सतह पर पड़ी, उस 'छाप' को आलोकित करना ही इस टिप्पणी का निहितार्थ है।

उपलब्ध 'नाथ-योग' साहित्य का अवलोकन स्पष्ट करता है कि योग तात्त्विक या अभौतिक ज्ञान के परे वह आध्यात्मिक या नैतिक अनुशासन है जो समाधि की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। इस अर्थ में गुरु गोरखनाथ 'महा-योगी' कहे जाते हैं, जिनका आदि एवं अन्त अलौकिक है, अनन्त है। वे मानवीय अस्तित्व की ईश्वरीय सम्भावना के प्रतीक हैं। सन्त चरित लेखन

---

*पूर्व आचार्य-अध्यक्ष, भूगोल विभाग, दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
*सम्पर्क* - shrivastava1939@gmail.com

आध्यात्मिक भूगोल का एक पक्ष है। सन्त चरित लेखकों के अनुसार वे स्थान और समय के सामान्य नियमों के परे ऐसे मानवातार हैं जो पृथ्वी पर अनेक युगों में प्रकट हुए।

समय एवं स्थान से आबद्ध तत्त्व भूगोल में विश्लेषण एवं विवेचना के अंग होते हैं, लेकिन जो स्थानिक-कालिक अन्तरापृष्ठीय परख की परिधि के परे है, उस महान योगी को भूगोल के दायरे में बाँधने का प्रयास करना हवा को पिंजड़े में बाँधने की तरह है। फिर भी गुरु गोरखनाथ इस पृथ्वी पर अवतरित हुए, यह सत्य है। वे अनेक स्थानों पर प्रकट हुए, समाधिरत रहे तथा घूम-घूमकर समाज में योग विद्या का प्रचार, प्रसार एवं प्रशिक्षण का अलख जगाते रहे जिसका प्रमाण श्री गोरखनाथ से जुड़ी अनेक परम्पराएँ हैं।[२]

## स्थानिक-कालिक अनुमान

गुरु गोरखनाथ सभी युगों में समय-समय पर प्रकट होते रहे हैं एवं योग विद्या का अलख जगाकर जनमानस को जीवन के परम सत्य को समझाने का प्रयास करते रहे हैं।

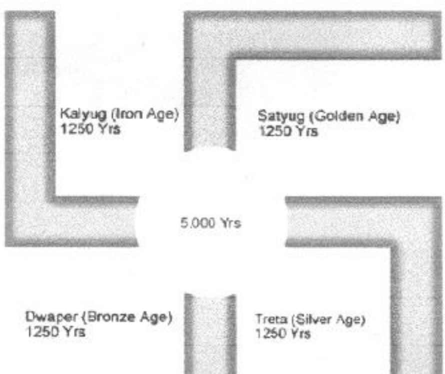


*स्रोत – विकिपीडिया, दि वर्ल्ड एन्साइक्लोपीडिया*

सन्त चरित लेखन एवं इतिहास के वृतान्त के अनुसार गुरु गोरखनाथ हर एक युग में पृथ्वी पर प्रकट होते रहे हैं और मानवता को योग का सन्देश देते रहे हैं। सामान्य पाश्चात्य कैलेण्डर में गुरु गोरखनाथ की अवधि २००० वर्ष पुरानी मानी जाती है, जब कि भारतीय दर्शन में ५००० वर्षों की अवधि में गुरु गोरखनाथ प्रत्येक युग में अवतार लेते रहे हैं।

ऐसे प्रमाण हैं कि जीसस क्राइस्ट (४ बीसी – ३०/३३ एडी) तथा पैगम्बर

मुहम्मद (५७०-५३२ सीई) ने गुरु गोरखनाथ से योग की शिक्षा प्राप्त की थी या वे उनसे मिले थे। कबीर एवं नानक के भी उनसे मिलने के तथ्य सामने आते हैं तदनुसार गुरु गोरखनाथ का अस्तित्व २००० वर्ष से अधिक पुराना है तथा वे प्रत्येक युग में प्रकट होते रहे हैं, इस कथन की पुष्टि होती है।

नाथ सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार गुरु गोरखनाथ का कालिक अवतरण एवं आविर्भूत क्षेत्र निम्नवत माने जाते हैं-

**गुरु गोरखनाथ का कालिक अवतरण**

(सतयुग से कलियुग तक)

| युग | आविर्भूत क्षेत्र |
|---|---|
| सतयुग | पेशावर (पंजाब) |
| त्रेता युग | गोरखपुर (उ.प्र.) |
| द्वापर युग | हरमुज (द्वारिका से आगे) |
| कलियुग | गोरखमढ़ी (सौराष्ट्र) |

स्रोत-*महायोगी गुरु गोरखनाथ एवं उनकी तपस्थली, २०१४*

उन्होंने एक विशाल भौगोलिक परिधि में एवं अनेक युगों में जन-मानस को उद्दीप्त किया। भारत उपमहाद्वीप में अफगानिस्तान से लेकर म्यांमार तक, एवं मंगोलिया, हिमालयीय तिब्बत-नेपाल से लेकर दक्षिण में श्रीलंका तक, पश्चिम एवं पूर्वी भारत, बांग्लादेश में योगविद्या का अलख जगाकर एक ऐसी जीवन पद्धति का प्रचार किया जो भौगोलिक विश्लेषण की प्रेरणाप्रद पृष्ठभूमि प्रदान करती है।

## गोरख दर्शन का स्थानिक प्रभाव क्षेत्र

गोरख दर्शन के महाद्वीपीय स्थानिक प्रभाव क्षेत्र के मान-रेखन के लिए गोरखपुर नगर में स्थित श्री गोरखनाथ के मन्दिर को केन्द्र के रूप में लिया जा सकता है। उपलब्ध सूचना के अनुसार मंगोलिया एवं तिब्बत (अब चीन) में गोरख दर्शन के प्रमाण मिलते हैं। अफगानिस्तान में कन्धार, काबुल (कम्बोज), जलालाबाद; पाकिस्तान में पेशावर, जोगी टीला, हिंगलाज, बलूचिस्तान, सिन्ध; नेपाल में पशुपतिनाथ, गोरखा, घोराही, डोटी; श्रीलंका में केन्डी; बांग्लादेश में महेश काली दीप, भारत के लगभग सभी भागों में, विशेष रूप से कुमाऊ-गढ़वाल, कश्मीर, पंजाब, असम, मणिपुर, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, गुजरात, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, ओडिशा, कर्णाटक, तमिलनाडु के भागों में गुरु गोरखनाथ के मठ, मन्दिर, शिव मन्दिर, शक्तिपीठ आदि मिलते हैं।

उल्लेखनीय है कि अफगानिस्तान एवं पाकिस्तान में गुरु गोरखनाथ के स्थल

आज भी मौजूद हैं तथा नियमित रूप से पूजा, आरती, भजन आदि होते आ रहे हैं। बांग्लादेश में अहोमी एवं बंगाली परम्परा का प्रभाव है। बांग्लादेश भी प्रभावित है। अर्थ यह निकलता है कि आस्था एवं विश्वास, परम्परा एवं धर्म राजनीति की विरासत नहीं होते हैं। ये मनुष्य के हृदय में होते हैं। यही कारण है कि पाकिस्तान और बांग्लादेश जैसे मुस्लिम क्षेत्रों में भी गुरु गोरखनाथ का अलख जगता है। यह विश्व-बन्धुत्व की वास्तविकता है। गुरु गोरखनाथ महान हैं, उनकी भक्ति-परम्परा अपार है। वे जब भी प्रकट हुए, जहाँ भी प्रकट हुए, रहे और मानव समाज को योग का सन्देश देते रहे। यह अवर्णनीय है।

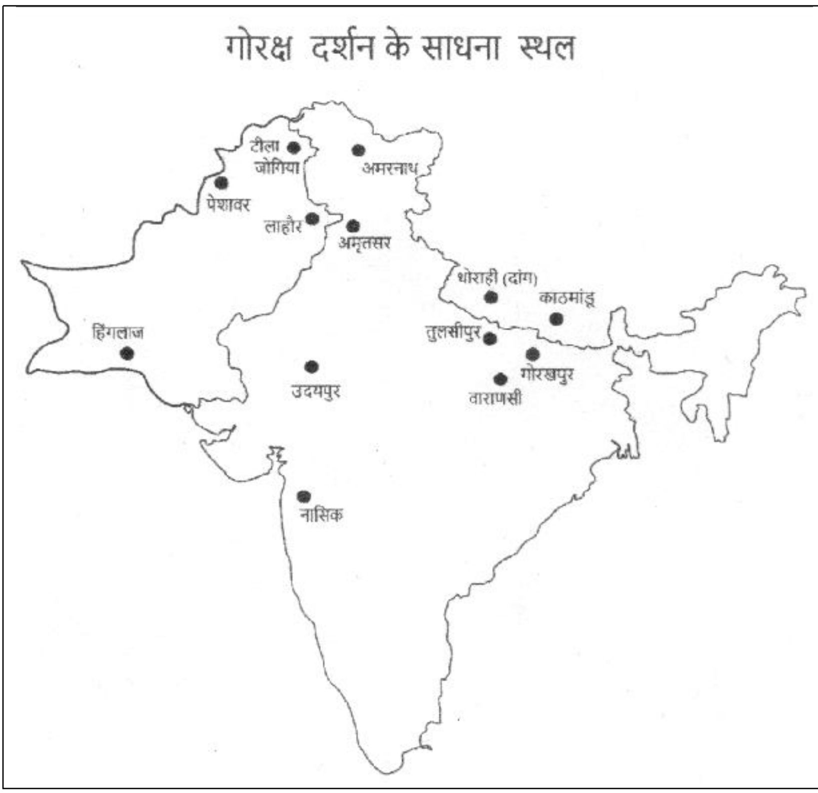


गोरख दर्शन का प्रभाव क्षेत्र एशिया महाद्वीप के विशाल जनसंख्या वाले क्षेत्र पर विस्तृत है। इसके आकलन के लिए तत्कालीन सीमारहित एशिया महाद्वीप के भूगोल की संकल्पना आवश्यक प्रतीत होती है। इस दृष्टिकोण से पश्चिम में अफगानिस्तान से लेकर म्यांमार तक एवं उत्तर में मंगोलिया से लेकर दक्षिण में श्रीलंका तक गोरख दर्शन की लोकहितार्थ योग परम्परा सामाजिक जीवन के घटक के रूप में प्रकट होती है।

## एशिया महाद्वीप
### गोरखदर्शन का भौगोलिक प्रसार

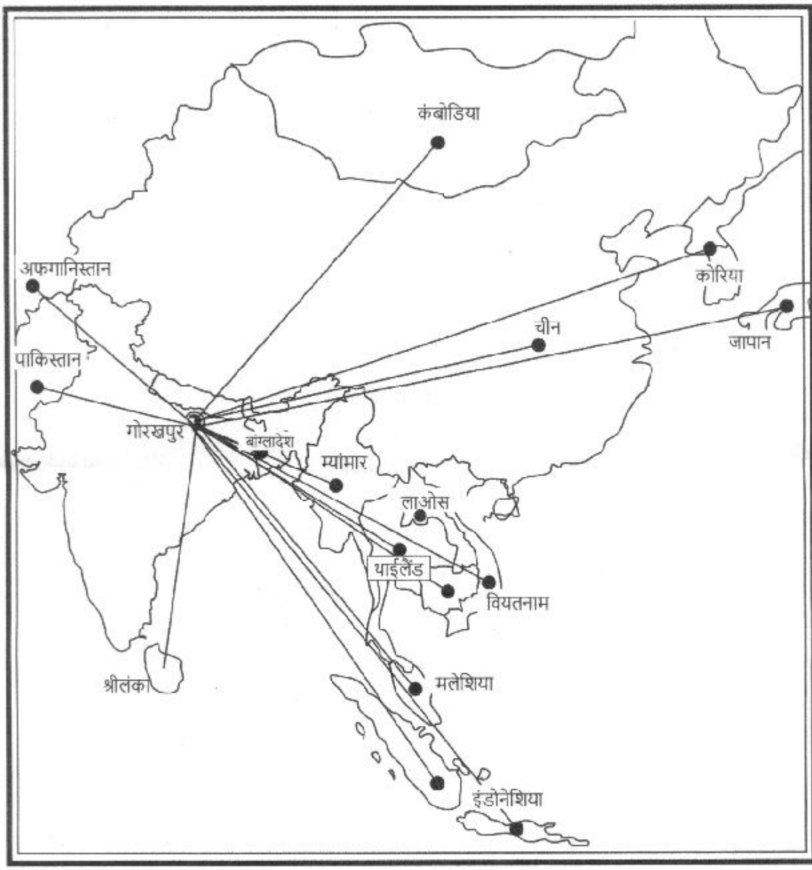


**गोरखनाथ मन्दिर**

गोरखपुर नगर में स्थित गोरखनाथ मन्दिर[४] गुरु गोरखनाथ की तपोभूमि है। मन्दिर के गर्भ-गृह का निर्माण गुरु गोरखनाथ की तपस्थली पर ही हुआ है। मन्दिर का वास्तु उत्कृष्ट यौगिक मान्यताओं, सिद्धान्तों, परम्पराओं आदि का प्रतीक है। देश-विदेश के विभिन्न भागों से हजारों भक्त गोरखनाथ मन्दिर के प्रांगण में रुकते हैं, अपने संस्कारों के अनुसार पूजा-पाठ करते हैं।

मन्दिर के गर्भ-गृह में अखण्ड ज्योति है, प्रांगण में अखण्ड धूना है जो चिर काल से प्रज्वलित है, आश्रय स्थल हैं जहाँ भक्त रहते हैं। मन्दिर का प्रांगण भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। वार्षिक त्योहार उल्लास के साथ मनाये जाते हैं।

स्वच्छता मन्दिर का प्रतीक है। भक्तों का मन्दिर परिसर में अनुशासनपूर्ण व्यवहार एक आदर्श है। मन्दिर के प्रांगण में विविध क्रिया-कलाप, मनोरंजन, वार्तालाप, खान-पान उनकी शक्ति से संचालित है।

गुरु गोरखनाथ का दर्शन नव-नाथों पर आधारित है। भगवान् शंकर इनके आदि रूप हैं। मन्दिर प्रांगण में पुस्तकालय है जहाँ गोरख साहित्य मिलता है। एक विशाल कक्ष में सभी सन्तों के विग्रह, उनकी जीवन-लीला की झलक मिलती है।

सामाजिक समरसता का प्रतीक है यह मन्दिर, यह दर्शन। देश और समाज को नयी दिशा देने में समर्थ है। राष्ट्रीय स्वाभिमान, राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम, यौगिक अनुशासन, गौशाला, धार्मिक विविध-वस्तु विक्रय, त्योहारों, उत्सवों, रामायण-पाठ आदि के नियमित आयोजन मन्दिर की विशेषता है।

श्री गुरु गोरक्षनाथ अयोनिज, चारों युगों में विद्यमान, अमरकाय एवं अपनी सिद्ध देह से वर्तमान हैं। गुरु गोरखनाथ अमर हैं, योग शरीर से विद्यमान हैं[५] और अधि-सांसारिक प्रदेश में वास करते हैं।

'जब तक आस्था अनन्त है आस्थाएँ अनन्त रहेंगी'

**सन्दर्भः**

१. गोरक्षनाथ सम्प्रदाय में गुरु गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ के साथ आदिनाथ (स्वयं भगवान् शिव) की परम्परा में आते हैं और स्वयं श्री शंकर जी के अवतार माने जाते हैं।

२. भगवान् शिव ने देवताओं से कहा- 'अहमेवास्मिगोरक्षोपमदरूपतन्निबोधत। योगमार्गप्रचारायमयारूपमिदंधृतम्।।' अर्थात् मैं ही गोरक्षनाथ हूँ, मेरा ही रूप गोरक्षनाथ को जानो, लोककल्याणकारी योग मार्ग का प्रचार करने के लिए मैंने ही गोरक्षनाथ का अवतार लिया है।

३. नाथ सम्प्रदाय से जुड़ी परम्पराएँ- अहोमी एवं बंगाली परम्परा, गुजराती परम्परा, हिन्दी परम्परा, कश्मीरी परम्परा, कन्नड़ परम्परा, राजस्थानी परम्परा, पंजाबी परम्परा, नेपाली परम्परा, सिन्धी परम्परा, तमिल परम्परा, तिब्बती परम्परा, उर्दू परम्परा।

४. गोरखनाथ अथवा गोरक्षनाथ मन्दिर नाथ सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र है। हिन्दू धर्म दर्शन अध्यात्म और साधना के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों में नाथ सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान है। सम्पूर्ण देश में फैले नाथ सम्प्रदाय के विभिन्न मन्दिरों तथा मठों की देख-रेख यहीं से होती है। नाथ सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार सच्चिदानन्द शिव के साक्षात् स्वरूप श्री गोरक्षनाथ जी सतयुग में पेशावर (पंजाब) में, त्रेतायुग में गोरखपुर (उत्तर प्रदेश), द्वापर युग में हरमुज, द्वारिका के पास तथा कलियुग में गोरखमढ़ी (सौराष्ट्र) में आविर्भूत हुए थे। चारों युगों में विद्यमान एक अयोनिज, अमर, महायोगी, सिद्ध महापुरुष के रूप में एशिया के विशाल भूखण्ड तिब्बत, मंगोलिया, कन्धार, अफगानिस्तान, नेपाल, सिंघल तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपने योग से कृतार्थ किया।

५. उनकी समाधि स्थली कहीं नहीं मिलती है (जीव समाधि का उल्लेख है)। वे अब भी अमर योग शरीर से विद्यमान हैं (पालमपुर, हिमाचल प्रदेश से रहस्यमय ढंग से अदृश्य होने के

उल्लेख बनर्जी महोदय की पुस्तक में पृष्ठ ६० पर है)। "साखी गोरखनाथ ज्यूँ अमर भये कलि माहि"–कबीर।

**एशिया महाद्वीप : नाथ योगियों के साधना स्थल**

| देश | क्षेत्र/स्थान | साधना स्थल/मठ/मन्दिर | टिप्पणी |
|---|---|---|---|
| अफगानिस्तान | काबुल (कम्बोज)<br>कंदहार, जलालाबाद | – | – |
| पाकिस्तान | गोर्खात्री, बलूचिस्तान, सिन्ध | पेशावर, हिंगलाज<br>टीला जोगियाँ,<br>योगी मन्दिर, कोहाट | गोरखनाथ धूनी |
| नेपाल | काठमाण्डू, गोरखा | पशुपतिनाथ, घोराही, डोटी | – |
| भारत | कुमाऊ–गढ़वाल, कश्मीर, पंजाब, असम, मणिपुर, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, गुजरात, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, ओडिशा, कर्णाटक, तमिलनाडु | गोरखनाथ, तुलसीपुर, वाराणसी सवारीकोट, काँगड़ा तांग पहाड़ हरिद्वार, लेंसडाउन, श्रीनगर (गोलक्षपर्वत),अल्मोड़ा, जोशीमठ, केदारनाथ, देवलगढ़, पीपलकोटी, उत्तरकाशी, देहरादून, अमरनाथ, कच्छ, अमृतसर, अम्वाला, पालमपुर, लडवा, पुरी, काठियावाड़, उज्जैन, पेधूनी, नासिक, कोलकाता, दमदम, मंगलोर, पोरबन्दर, कामरूप, नागपत्तनम, जगतसिंहपुर | – |
| बांग्लादेश | महेश काली द्वीप | – | – |
| तिब्बत (चीन) | – | – | वज्रयान |
| मंगोलिया | – | – | – |
| श्रीलंका | कैंडी | गोरखनाथ मन्दिर | – |

स्रोत–*ए.के. बनर्जी / विकिपीडिया*

**सम्बन्धित साहित्य:**

Adityanath (2005), *Gorakshanath*, Retrieved Mar. 7, 2006.
Banerji A.K. (1983), Philosophy of Gorakhnath with *Goraksha-Vacana-Sangraha*, ISBN 978-8120805644, pp.228-230.
Banerji A.K. (1938), *Gorakhnath and the Kanphata Yogis*, 6th Edition (2009 Reprint), Motilal Banarshidas.ISBN 978-8120805644, pp.228-230.
Banerji A.K. (....), *An Introduction to Naatha-Yoga*, Gorakhnath Mandir, The Eureka Printing Works, Gorakhpur.
Frawley, David (2008);(Vandana Shastri): *Hinduism: The Eternal Tradition*, Sanatan

Dharm, Voice of India, New Delhi.

Granoff Phyllis, Koichi Shinohara (Ed): *Pilgrims, Patrons, and Place: Localizing Sanctity in Asian Religions*, The University of British Columbia, Vancouver, www.ubcpress. a Asian Religions & Society Series-ISSN 1705-4761.

Reema Abbasi. (2014), *Historic Temples in Pakistan: A Call To Conscience*; Niyogi Books, New Delhi, pp 296, ISBN 978-93-83098-49-1.

विष्णुदत्त कुकरेती (विक्रम सं. २०४३); *नाथ पन्थ : गढ़वाल के परिप्रेक्ष्य में;* गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर।

अनुज प्रताप सिंह (२०१४, तृतीय संस्करण, विक्रम सं. २०७१): *गोरखनाथ और नाथ सिद्ध;* श्री गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर।

श्री गोरखनाथ मन्दिर, (२०१४, अष्टम संस्करण, विक्रम सं. २०७१); *महायोगी गुरु गोरखनाथ एवं उनकी तपस्थली*, गोरखपुर।

# योग दर्शन का व्यक्तित्व विकास एवं शिक्षा में योगदान

**शिप्रा सिंह***

योग एक प्राचीनतम विद्या है, जिसमें विवाद को प्रश्रय नहीं मिला है। योग दर्शन के आदि आचार्य हिरण्यगर्भ हैं। हिरण्यगर्भ सूत्रों के आधार पर (जो इस समय लुप्त है) पतंजलि मुनि ने योगदर्शन का निर्माण किया। योग है जीवात्मा का सत्य के साथ संयोग अर्थात् सत्य प्राप्ति का उपाय। यह माना जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति मनुष्य जीवन का लक्ष्य है और ज्ञान बुद्धि की श्रेष्ठता से प्राप्त होता है।

मानव जीवन का केन्द्र बिन्दु 'व्यक्तित्व' है और व्यक्तित्व के द्वारा ही व्यक्ति की समाज में पहचान होती है। मानव का समग्र जीवन उसके व्यक्तित्व से ही परिलक्षित होता है। भारतीय सन्दर्भ में व्यक्तित्व विकास नहीं है बल्कि व्यक्तित्व विकास का सम्बन्ध मूलतः आन्तरिक विकास से है। स्वयं को जानना या आत्मानुभूति व्यक्तित्व विकास की उत्कृष्ट सीमा है जिसे व्यक्ति शनैः-शनैः व्यक्तित्व विकास प्रक्रिया के क्रमिक सोपानों से गुजरता हुआ प्राप्त करता है। जिसने स्वयं को जान लिया, उसने जीवन के यथार्थ और उसके मर्म को समझ लिया। सम्पूर्ण रूप से स्वयं की अन्तर्निहित शक्तियों को न केवल जानना बल्कि उन शक्तियों को जीवन व समाज के लिए उपयोग करना व्यक्तित्व विकास का परिणाम है।

भारतीय दर्शन में व्यक्ति की पूर्णता ही मानव जीवन का परम लक्ष्य रहा है। व्यक्ति की समस्त शक्तियों का समुचित एवं पूर्ण विकास ही शिक्षा है। अतः व्यक्तित्व का सर्वांगीण एवं सन्तुलित विकास मनुष्य के जीवन को पूर्ण रूप से सुखमय एवं शान्तिमय बनाता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

समग्र व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया पर ही मानव जीवन की पूर्णता निर्भर

*अध्यक्ष, बी.एड्. विभाग, महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जंगल धूसड़, गोरखपुर

करती है, इसी में मानव जीवन की सार्थकता निहित है-

असतो मा सद्गमय

तमसो मा ज्योतिर्गमय

मृत्योर्मामृतंमय।। (वृहदारण्यक उपनिषद्-३.८)

महर्षि पतंजलि का योगदर्शन भी व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने मानव के व्यक्तित्व विकास के लिए अपने योगदर्शन में विभिन्न सूत्रों द्वारा विशद् रूप से दिशा-निर्देश दिया है। बुद्धि, बल, स्वास्थ्य तथा मानसिक शक्तियों के विकास के लिए पतंजलि का योगदर्शन अष्टचक्रों की बात करता है, जिसका विभिन्न शिक्षण विधियों के अनुप्रयोग के माध्यम से अभ्यास करके व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं उन्नतशील बनाया जा सकता है। इसीलिए एक शिक्षक के रूप में वे योग को प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य एवं आवश्यक मानते हैं, क्योंकि विद्यार्थी के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु चिन्तन एवं मनन के साथ निष्ठापूर्वक योगदान देना ही शिक्षक का परम कर्तव्य माना गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण संगठित व्यक्तित्व विकास के योग सिद्धान्त में आठ विधियों का वर्णन किया गया है। इसी को अष्टांग मार्ग भी कहते हैं, जो निम्नांकित है-

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्योऽष्टांवगानि।

(पा.यो.सू.-२.२९)

उपर्युक्त योग के आठ अंगों- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास किया जा सकता है।

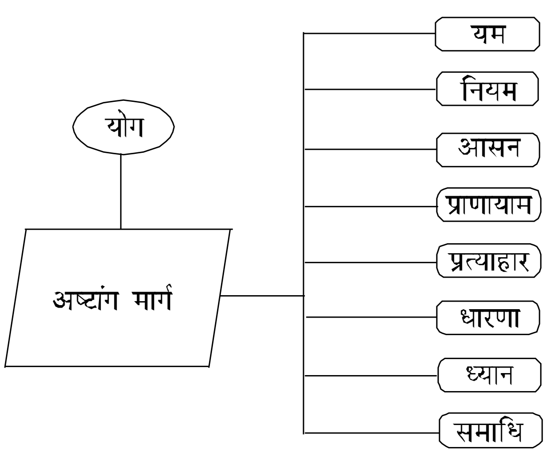

## योग के अष्टांग मार्ग

### १. यम-

यम योग का पहला अंग या मार्ग है। इन्द्रियों के संयम की क्रिया को यम कहा गया है। ये पाँच प्रकार के होते हैं-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।। (पा.यो.सूत्र-२.३०)

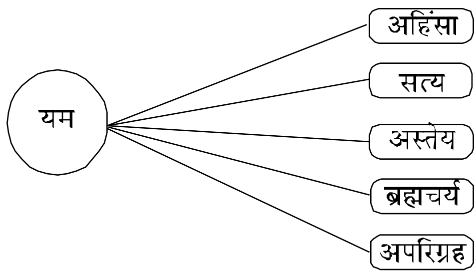


### यम के पाँच अंग

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह' - ये पाँच यम हैं।

**(क) अहिंसा -** अहिंसा का तात्पर्य अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचाना है।

**(ख) सत्य** - इसका अभिप्राय मन, वचन तथा कर्म से सत्य का दृढ़तापूर्वक पालन करना है। सत्य, नित्य, परमतत्त्व, सनातन, द्रष्टा, ध्येय केवल परमात्मा है।

**(ग) अस्तेय** - चोरी अर्थात् छिपाव का अभाव अस्तेय है। गीता में उल्लिखित है- तैदत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एवं सः।।3.12।।

अर्थात् इन दैवी गुणों को बढ़ाये बिना जो कहता है, मैंने प्राप्त कर लिया, निश्चय ही वह चोर है। जब पाया ही नहीं तो भोगेगा क्या? इस सत्य को छिपानेवाला निश्चय ही चोर है। साधक में इस अवगुण का अभाव होना चाहिए। उसके मन, वचन तथा कर्म में अन्तर नहीं होना चाहिए।

**(घ) ब्रह्मचर्य -** 'ब्रह्मं आचरति स ब्रह्मचारी' - जो ब्रह्म का आचरण करता है अर्थात् मन सहित इन्द्रियों का ब्रह्माचरण में प्रवाहित होना ब्रह्मचर्य है। सब प्रकार के विषयों का चिन्तन मिट जाना विशुद्ध ब्रह्मचर्य है। जब ब्रह्मचर्य व्रत की दृढ़ अवस्था आ जाती है तो सामर्थ्य, वीर्य, शौर्य और पराक्रम का लाभ हो जाता है।

व्यक्ति धैर्यवान हो जाता है। जीवन में विपत्तियाँ आने पर वह घबड़ाता नहीं है और न ही पीछे हटता है।

**(ङ) अपरिग्रह** – सामाजिक सन्दर्भों में आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का स्वार्थ की दृष्टि से संग्रह न करना अपरिग्रह कहा जाता है।

ये पाँच यम व्यक्ति के व्यक्तित्व परिष्कार में सहायक हैं। ये बालक अथवा व्यक्ति में बुरी प्रवृत्तियों को विकसित होने से रोकते हैं।

**२. नियम –**

पाँच यमों की भाँति नियम भी पाँच हैं–

शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिः।। (पा.यो.सू.–२.३२)

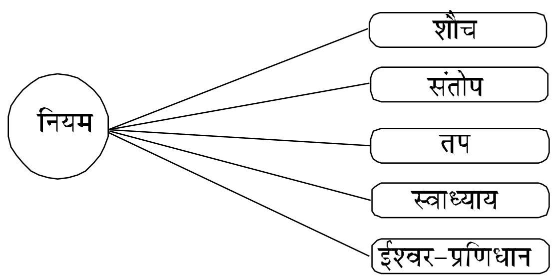


## नियम के पाँच अंग

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान – ये नियम के पाँच अंग बतलाये गये हैं।

**(क) शौच** – शौच से अभिप्राय बाह्य एवं आन्तरिक अर्थात् शरीर और चित्त की शुद्धि से होता है। इससे अन्तःकरण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना और आत्म–साक्षात्कार की योग्यता विकसित हो जाती है।

**(ख) संतोष** – संतोष का अर्थ है – जो सम है, जिसमें विषमता नहीं है, वह एक परमतत्त्व परमात्मा है। उससे तोष या तृप्ति होना संतोष है। वह सर्वोत्तम सुख का स्रोत है। महर्षि कहते हैं– संतोषादनुत्तम सुखलाभः। (पा.यो.सू.–२.४२)

संतोष से उत्तम कोई सुख नहीं है अर्थात् ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ संतोष से मिलता है।

**(ग) तप** - इष्ट के अनुरूप मनसहित इन्द्रियों को तपाना तप है। तप से अभिप्राय सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुख आदि द्वन्द्वों को सहन करने से होता है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण हो जाता है।

**(घ) स्वाध्याय** - स्वयं का अध्ययन स्वाध्याय है। स्वयं का अध्ययन करते हुए, आत्म-मूल्यांकन द्वारा (व्यक्ति के द्वारा) अपनी कमियों को दूर करते हुए, आत्मविकास की प्रक्रिया में आगे बढ़ना ही स्वाध्याय है।

**(ङ) ईश्वर-प्रणिधान** - ईश्वर-प्रणिधान से तात्पर्य ईश्वर का ध्यान एवं स्मरण से होता है।

इस प्रकार यम तथा नियम दोनों के द्वारा न केवल सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिलती है बल्कि मानव जीवन को समुन्नत बनाने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनके पालन से चित्त विकारों और वासनाओं पर नियंत्रण स्थापित होता है। अतः यम एवं नियम का पालन सबके लिए आवश्यक है।

### ३. आसन

यम, नियमों के पश्चात् आसन का क्रम आता है। आसन से महर्षि का आशय स्थिर बैठने से है- **स्थिरसुखमासनम्**। (पा.यो.सू.-२.४६)

### ४. प्राणायाम

योग का चौथा अंग प्राणायाम है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। (पा.यो.सू.-२.४९)

आसन के सधते ही श्वास-प्रश्वास की गति रुक जाना प्राणायाम है। साधक क्लिष्ट वृत्ति व आसुरी सम्पदा त्यागता है। यह ग्रहण करना और त्यागना शान्त हो जाए, इनका हिलना-डुलना रुक जाना प्राणायाम है। साँस वायु के नियंत्रण से चित्त में स्थिरता का उदय होता है। साधना एक स्तर है, अतः इसका नाम प्राणायाम है।

### ५. प्रत्याहार

प्राणायाम से प्रत्याहार अर्थात् मन को विषयों से समेटने की क्षमता और इन्द्रियों को वश में करने की योग्यता का विकास हो जाता है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकारइवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

(पा.यो.सू.-२.५४)

मानसिक विकास के उच्च स्तर पर प्राणायाम के परिणामस्वरूप इन्द्रियाँ अपने विषयों का सम्बन्ध त्यागकर चित्त के स्वरूप के अनुकरण जैसा प्रवाहित

होना प्रत्याहार है अर्थात् इन्द्रियों पर या मन पर पूर्ण नियंत्रण प्रत्याहार कहलाता है। इसके लिए अनवरत अभ्यास एवं दृढ़ संकल्प आदि की जरूरत होती है।

### ६. धारणा

धारणा से अभिप्राय चित्त को किसी अभीष्ट विषय पर लगाने या जमाने से होता है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारण। (पा.यो.सू.-३.१)

किसी एक स्थान पर चित्त को बाँधना है। धारणा में चित्त किसी एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है। इस अवस्था के प्राप्त होने के बाद साधक ध्यान के योग्य हो जाता है।

### ७. ध्यान

योग का सातवाँ अंग ध्यान होता है जहाँ चित्त को लगाया जाय उस ध्येय में वृत्ति का एक बार चलना क्रम न टूटना ध्यान कहलाता है। ध्येय के प्रति लगातार अखण्ड रूप से एकाकार होना ध्यान है वस्तुतः ध्यान एक सहज परिणाम है।

### ८. समाधि

योग का आठवाँ अंग समाधि है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (पा.यो.सू.-३.३)

जब केवल लक्ष्य का आभास रह जाये चित्तवृत्ति का निज स्वरूप शून्य हो जाय तब वही ध्यान समाधि में परिणत हो जाता है यह बौद्धिक विकास की पराकाष्ठा है। समाधि स्तर पर आत्मा का आलोक मात्र रह जाता है। इससे अन्य संस्कारों का अन्त हो जाता है।

ऋतम्भराः तत्र प्रज्ञा।। (पा.यो.सू.-१.४८)

उस समय व्यक्ति की बुद्धि ऋतम्भरा अर्थात् सत्य से संयुक्त हो जाती है। सत्य एकमात्र परमात्मा है अतः वह उस परमतत्त्व परमात्मा को धारण करने की क्षमता वाली हो जाती है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि पतंजलिकृत योगदर्शन में विवेचन अष्टांग मार्ग सर्वांगीण एवं संगठित व्यक्तित्व विकास के लिए शैक्षिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश है, जो मानव को अपने स्व (अस्तित्व) का ज्ञान कराते हुए उसके जीवन को सार्थक बनाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग को जीवन में आत्मसात् करने के लिए निम्नांकित शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जा सकता है- प्रत्यक्ष विधि, अनुमान

विधि, अनुसंधान विधि, प्रश्नोत्तर-चर्चा विधि, व्याख्यान तथा पुस्तक अध्ययन विधि, अनुकरण विधि, अनुभव विधि, संवाद विधि, श्रवण मनन तथा निदिध्यासन विधि, प्रत्यक्ष विधि-इन्द्रियों के।

## प्रत्यक्ष विधि

इन्द्रियों के सम्पर्क से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। प्रत्यक्षण द्वारा प्राप्त ज्ञान यथार्थ तथा साक्षात् होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय तथा अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) क्रियाशील रहते हैं। इस प्रकार के संज्ञान को 'इन्द्रियजन्य' कहते हैं। प्रत्यक्ष स्रोत के द्वारा इन्द्रियों की क्रिया के माध्यम से पदार्थ की सीधी चेतना होती है, प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रत्यक्षित पदार्थ तथा प्रत्यक्ष करने वाली इन्द्रियों के वास्तविक सम्पर्क को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं।

## अनुमान विधि

इससे ज्ञात विषय के आधार पर किसी अज्ञात विषय का किसी हेतु के माध्यम द्वारा अनुमान लगाया जाता है। अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं जो किसी पूर्वज्ञान के पश्चात् आता है। अनुमान विधि में किसी हेतु या साधन द्वारा किसी अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं क्योंकि उन दोनों में व्यापकता का सम्बन्ध उपस्थित रहता है।

## अनुसंधान विधि

योग दर्शन में सत्य के अन्वेषण पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार व्यक्ति स्वयं प्रयास से ज्ञान प्राप्त कर सकता है, दूसरों के द्वारा प्रदत्त ज्ञान को शाब्दिक रूप में ग्रहण किया तो जा सकता है परन्तु उसे आत्मसात् नहीं किया जा सकता। आत्मसात् करने के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी स्वयं ज्ञान की अनुमति करें स्वयं सत्य का अनुसंधान करें।

## प्रश्नोत्तर-चर्चा विधि

मनुष्य जीवन व जगत् के अध्ययन के दौरान अनेक प्रकार की समस्याओं की अनुभूति करता है। इन समस्याओं के बारे में गुरु के समीप बैठकर विनम्रतापूर्वक चर्चा करता है, बारम्बार प्रश्न पूछता है और निष्कर्ष या समाधान तक पहुँचता है।

## व्याख्यान तथा पुस्तक अध्ययन विधि

इस विधि के अन्तर्गत गुरु किसी गूढ़ विषय को व्याख्यान के द्वारा सरल रूप में प्रस्तुत करता है। साथ ही उस विषय से सम्बन्धित पुस्तकों का अध्ययन करने के लिए बालकों को प्रेरित भी करता है। व्याख्यान द्वारा गुरु अपने अनुभव

से शिष्य की क्षमता को ध्यान में रखते हुए विषयवस्तु का प्रतिपादन करता है।

### अनुकरण विधि

यह विधि प्राथमिक स्तर की शिक्षा के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। बाल्यावस्था में बालक शिक्षक का अनुकरण करते हुए अधिक सीखता है। इस अवस्था में व्याख्यान विधि अधिक उपयोगी नहीं होती है। इस विधि के अन्तर्गत गुरु वांछित व्यवहारों को स्थूल रूप में स्वयं या उपलब्ध महापुरुषों के रूप में या साहित्य के रूप में प्रस्तुत कर अनुकरण करने के लिए शिष्य को प्रेरित करता है।

### अनुभव विधि

अज्ञान की सभी स्थितियों में ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान के बीच भेद बना रहता है। जब तक अभेद की स्थिति नहीं आ जाती तब तक ज्ञान की अनुभूति नहीं होती। अनुभव ज्ञान की वह स्थिति है जिसमें ये तीनों अंग एकाकार हो जाते हैं। यह एक ऐसा अनुभव है जो वाणी तथा विचार से परे है। इस ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य दैवीय अस्तित्व से परिपूरित हो जाता है, मनुष्य जीवनमुक्त हो जाता है। सांसारिक या व्यावहारिक दृष्टिकोण से जीवन में इस प्रकार की स्थितियाँ अनेक बार कुछ क्षणों के लिए आती हैं जब व्यक्ति एकाग्र हो जाता है या सौन्दर्यानुभूति में लीन हो जाता है। इस प्रकार की अल्पकालिक अनुभूतियाँ भी जीवन को उदात्त करती हैं। छात्रों को इस प्रकार के अवसर मिलने चाहिए। साहित्य, संगीत, नाटक, विज्ञान आदि के माध्यम से इस प्रकार का सहज ज्ञान अर्जित किया जाता है।

### संवाद विधि

ज्ञानार्जन के लिए शिष्य अपने सहपाठियों, मित्रों एवं विशेषज्ञों से संवाद स्थापित कर अपने ज्ञान में अभिवृद्धि करते हैं।

### श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन विधि

शिष्य स्मृति के आधार पर सुनकर उस पर विचार-विमर्श करता है, चिन्तन करता है और साथ ही प्राप्त ज्ञान का अपने दैनिक जीवन में उपयोग कर आचरण को परिमार्जित एवं परिष्कृत करता है।

### निष्कर्ष

आधुनिक युग में भी योगदर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। पतंजलि एकमात्र ऐसे विद्वान ऋषि हैं जिनके योग सम्बन्धी सिद्धान्तों को वर्तमान युग में चिकित्सा विज्ञान ने सर्वाधिक मान्यता एवं सम्मान प्रदान किया है। योग सफल एवं स्वस्थ जीवन का आज प्रमुख आधार माना जाता है। योग ही एकमात्र ऐसा साधन है

जिसके द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का उन्नयन एवं परिष्कार करते हुए विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है। वर्तमान भौतिक युग में व्यक्ति स्वयं को विस्मृत कर, अन्तहीन भोगवादी दौड़ में शामिल है। अज्ञान के इस तिमिर में योगदर्शन एकमात्र प्रकाश की किरण है। योग शिक्षा द्वारा भारत के प्रत्येक नागरिक/विद्यार्थी को जागरूक कर स्वस्थ एवं संगठित व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है। अतः समसामयिक सन्दर्भों में पतंजलि का योगशास्त्र न केवल पूर्णतया सफल है वरन् उनके प्राचीनतम अमूल्य वैचारिक निष्कर्ष जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरे हैं उससे उनकी वैचारिक गहनता, दूरदृष्टि एवं शैक्षिक उपादेयता स्पष्ट होती है। इस दृष्टि से महर्षि पतंजलि को कालजयी विचारक माना जाना चाहिए।

**सन्दर्भः**

अरोरा, सरोज (२००७), *प्राचीन भारतीय मनीषी एवं उनका शिक्षा दर्शन*, आगरा; एच.पी. भार्गव बुक हाउस।

आत्रेय, शान्ति प्रकाश (१९६५), *योग मनोविज्ञान*, वाराणसी; दी इण्टरनेशनल स्टैण्डर्ड पब्लिकेशन।

ओड, लक्ष्मीकान्त (१९९४), *शिक्षा की दार्शनिक पृष्टभूमि*, जयपुर; राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

स्वामी अड़गड़ानन्द (२००४), *योगदर्शन*, मुम्बई; अड़गड़ानन्द जी आश्रम ट्रस्ट।

स्वामी ओमानन्द (१९६५), *पातंजलयोग प्रदीप*, गोरखपुर; गीताप्रेस।

सिंह, एच.पी. (२००४), *उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा*, आगरा; राधा प्रकाशन मन्दिर।

श्रीवास्तव, मयंक कुमार (२००७), *पाश्चात्य तथा भारतीय मनोविज्ञान में व्यक्तित्व की संकल्पना, परिप्रेक्ष्य, शैक्षिक योजना और प्रकाशन का सामाजिक, आर्थिक सन्दर्भ*, वर्ष-१४, अंक-३, दिसम्बर २००७, नयी दिल्ली राष्ट्रीय योजना एवं प्रशासन विश्वविद्यालय।

श्रीवास्तव, एस.एस. (मुख्य सम्पादक) (२००८), *भारतीय शिक्षा मनोविज्ञान*, लखनऊ; भारतीय शिक्षा शोध संस्थान।

तोमर, लज्जाराम (१९९५), *भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्व*, नयी दिल्ली; सुरुचि प्रकाशन।

# अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस पर गोरक्षनाथ की योग साधना

**महन्त योगी शिवनाथ***

भारत के प्रधानमंत्री मा. श्री नरेन्द्र मोदी जी के प्रयत्न से योग में भारत आज पुनः विश्वगुरु पद पर प्रतिष्ठित हुआ है। गोरक्षपीठाधीश्वर उत्तर प्रदेश के यशस्वी मुख्यमंत्री महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी के साथ आज जब लखनऊ में आयोजित भव्य योग समारोह में योगाभ्यास कर रहे हैं इसी समय उनकी परम्परा में हम सभी यहाँ योगाभ्यास कर अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस पर श्रीगोरक्षपीठ को उसका सहभागी बना रहे हैं। अत्यन्त गौरव के साथ मुझे यह बताने में प्रसन्नता हो रही है कि इस समय दुनिया के लगभग २०० देश भारत के निर्देशन में 'अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस' पर योगाभ्यास कर रहे हैं। २१वीं शताब्दी में भारत के जगद्‌गुरु बनने की यात्रा का यह एक कदम है। हम भारतीयों के लिए यह अत्यन्त गौरव का विषय है। भारत की सनातन परम्परा और योग ही मानव सभ्यता को बचा सकती है। मनुष्य को सुख और शान्ति का स्थायी मार्ग दिखा सकती है। दुनिया भी अब यह स्वीकार करने लगी है और योग को मिला अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन इस बात का प्रतीक है।

अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के रूप में २१ जून की तिथि के सन्दर्भ में कहा कि भारत की ऋषि-परम्परा के प्रति दुनिया की श्रद्धा का दिवस बन गया है। एक प्रश्न यह उठना स्वाभाविक है कि आखिर २१ जून ही क्यों? योग का उद्देश्य है मनुष्य की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक ऊर्जा का संयोजन। सामान्यतः ऊर्जा के हमारे तीनों केन्द्र अलग-अलग दिशा में कार्य करते हैं। तीनों मार्गों के संयोजन

---

*कटक (उड़ीसा); अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस-2017 पर श्री गोरखनाथ मन्दिर के दिग्विजयनाथ स्मृति सभागार एवं परिसर में योगाभ्यास कर रहे योगाभ्यासियों के बीच साप्ताहिक योग शिविर का समारोप उद्‌बोधन।

से हमारे कार्य की गुणवत्ता एवं क्षमता में वृद्धि होती है। यही स्थिति इस सृष्टि के साथ भी है। इस सृष्टि में ऊर्जा का सबसे बड़ा स्रोत 'सूर्य' है। पृथ्वी पर सूर्य की उपस्थिति जितनी लम्बी रहेगी इस तिथि को सबसे अधिक ऊर्जा की मौजूदगी भी सुनिश्चित करती है। २१ जून वह तिथि है जब सूर्य की उपस्थिति पृथ्वी पर सबसे लम्बी अवधि तक रहती है। इस तिथि पर सूर्य की ऊर्जा पृथ्वी पर सबसे प्रखर रूप से होती है। यही है रहस्य २१ जून की तिथि और योग दिवस की।

योग भारतीय मनीषियों की आध्यात्मिक चेतना का एक ऐसा प्रतिबिम्ब है जिसे प्रत्येक मानव उपासना पद्धतियों के बिना किसी विरोध के स्वीकार कर रहा है। यह शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन की ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा मन और शरीर पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है और अन्ततः सत्य की अनुभूति तथा प्रत्येक प्रकार के बन्धनों से पूर्ण मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। यह साधना पद्धति उतनी ही प्राचीन और सनातन है जितनी कि भारतीय संस्कृति। तथापि महायोगी गुरु गोरक्षनाथ ने इस पद्धति को अपने अनुभव से सर्वजनीय बनाया। गुरु श्री गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित योग साधना ने भारत की सनातन परम्परा को और अधिक समृद्ध और मजबूत किया। हमें इस बात पर गर्व है कि हम महायोगी गुरु गोरक्षनाथ की परम्परा के वाहक हैं। गोरखपुर की धरती से पुष्पित एवं पल्लवित यह योग धारा आज दुनिया के कोने-कोने में पीड़ित मानव को सुख की सुगन्ध पहुँचा रही है।

## मुद्रा एवं बन्ध*

शरीर की वह विशिष्ट क्रिया, जिससे शरीर के किसी अवयव विशेष को स्थिति विशेष में रखा जाता है, 'मुद्रा' कहते हैं। 'बन्ध' का शाब्दिक अर्थ है - बाँधना, अर्थात् शरीर के अंग विशेष को धीरे-धीरे शक्तिपूर्वक संकुचित कर बाँध ना ही 'बन्ध' है।

आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास के बाद महामुद्रा की साधना की जाती है। मुद्रा की कुछ विधियों का अभ्यास, आसन और प्राणायाम के साथ स्वतः करना पड़ता है। मुद्रा की उच्चतर और अपेक्षाकृत कठिन विधियाँ उच्चतर उपलब्धियों के लिए निर्धारित हैं। मुद्रा की उच्चतर विधियों में विशेषतः दस विधियों- महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीत करनी, बज्रोली और शक्तिचालन का उल्लेख मिलता है। ये सभी पूर्णतः व्यावहारिक हैं।

*15 से 21 जून 2017 के साप्ताहिक योग-शिविर में व्याख्यान का सार-संक्षेप।

इन्हें योग्य गुरु के प्रत्यक्ष निर्देशन में उचित अभ्यास के द्वारा ही समझा जा सकता है। इनके अभ्यास से प्रत्येक व्यक्ति की मनोभौतिक प्रकृति के अन्तराल में सोई हुई आध्यात्मिक शक्ति को जागृत किया जा सकता है। केन्द्रित मनोप्राण शक्ति को सभी दिशाओं से समेट कर अन्तरतम प्रदेश की नाड़ी सुषुम्ना के माध्यम से उच्चतर भूमिकाओं की ओर उन्मुख किया जा सकता है। महामुद्रा के अभ्यास से उच्चतम आध्यात्मिक भूमि में अनुभूति होने वाली शिव और शक्ति की आनन्दमयी एकता की अनुभूति हो जाती है। 'बन्ध' से थाइराइड एवं डिप्रेशन जैसी बीमारियों से सहज ही छुटकारा पाया जा सकता है। 'खेचरी' का अभ्यास करने से वृद्ध शरीर भी यौवन को प्राप्त हो जाता है। 'महाबन्ध' से शरीर की झुर्रियाँ नष्ट हो जाती हैं। शरीर आरोग्य हो जाता है। शरीर में नयी कान्ति आ जाती है। महामुद्रा का अभ्यास करने से कुष्ठ जैसा भयानक रोग दूर हो जाता है। पेट की बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। मुद्रा एवं बन्ध से शारीरिक रोगों से मुक्ति मिलती ही है साथ ही आध्यात्मिक चेतना भी अपने उच्चतर बिन्दु को प्राप्त करती है।

**प्राणायाम**

प्राणायाम योग की एक प्रमुख विधा है। प्राणायाम हठयोग की मुख्य साधना है। प्राणायाम से मन को नियंत्रण करना ही हठयोग है जबकि ध्यान से मन को नियंत्रण करना राजयोग है। महर्षि पतंजलि ने चार प्रकार के प्राणायाम - बाह्यावृत्ति, अभ्यान्तरवृत्ति, स्तम्भवृत्ति तथा चतुर्थ प्राणायाम बतलाये हैं जबकि गोरखनाथ के हठयोग प्रदीपिका में आठ प्रकार के प्राणायामों- सूर्यभेदन, उज्जयी, शीतली, सीतकरी, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः वायु और मन दोनों चंचल हैं और दोनों एक दूसरे से नियंत्रित होते हैं। इस प्रकार प्राणायाम मन को नियंत्रित करने की एक साधना है। प्राणायाम से सभी रोग दूर होते हैं। तन-मन को स्वस्थ रखने के लिए प्राणायाम एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। प्राणायाम से ज्ञान पर ढका आवरण हट जाता है और ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है। इससे शरीर का शोधन, मन का शोधन एवं बुद्धि का शोधन होता है।

# नादयोग

**डॉ. जयन्तनाथ***

नादयोग वस्तुत: ध्वनि विज्ञान है। इसका सिद्धान्त है कि पूरा विश्व एक नाद पर आधारित है, अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ध्वनि सिद्धान्तों का रचनात्मक रूप है। ये ध्वनियाँ केवल बाह्य वातावरण में ही नहीं, वरन् हमारे शरीर में भी चेतना के विभिन्न स्तरों पर अनन्त ध्वनि तरंगें हैं। उनके मिश्रण तथा अदल-बदल से शरीर निर्मित होता है। नादयोग के अनुसार प्रारम्भ में केवल एक पवित्र ध्वनि 'ॐ' की थी। इसके पश्चात् ध्वनि तरंगों के द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना हुई।

भारतीय आध्यात्मिक साधना की सभी पद्धतियों ने सर्वसम्मति से 'ॐ' को अति प्राचीन काल से ही परमात्मा का अद्वितीय ध्वनि प्रतीक माना है। चाहे विविध साधना मार्गों में वह जिस किसी भी पवित्र नाम से अभिहित किया गया हो। 'ॐ' प्रथम ध्वनि है। प्रारम्भिक ध्वनि है। यह अनायास अभेदात्मक प्रकृति ध्वनि है। इसे सभी प्रकार की विशिष्ट ध्वनियों का मूल स्रोत माना जाता है। यह वेदों का आधार है। इसमें वेदों की आत्मा और उसका वास्तविक अर्थ निहित है। इस 'ॐ' के सम्बन्ध में महायोगी गुरु गोरखनाथ जी कहते हैं-

अलेष लेषंत अदेष देषत अरस-परस ते दरस जाणी।
सुंनि गरजंत बाजंत नाद अलेष लेषंत ते निज प्रवाणीं।।

अलख निरंजन अर्थात् 'ॐ' शून्य पद में स्थित परब्रह्म परमशिव परमात्मा अक्षर है। वह वर्णन में नहीं आता, वह नेति-नेति शब्द द्वारा श्रुति में प्रतिपादित है। वह निराकार है, उसे चक्षु इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता है। वह ज्ञान चक्षु द्वारा आभ्यन्तरिक अनुशीलन में दर्शनीय है, ब्रह्मरन्ध्र में, सहस्रार में अनाहतनाद का श्रवण करते हुए योगी उसकी महिमा और व्यापकता का शब्दाकर करते हैं। वे वर्णनातीत परमब्रह्म का निरूपण करते हैं। पर यह निरूपण उनकी परमात्म

---

*निदेशक, नाथ योग एवं नेच्यूरोपैथी केन्द्र, गोरखपुर

अनुभूति की ही परमफल है, यह निर्विवाद है। समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक ब्रह्मपिण्ड में अनुभव संवेद्य है। परब्रह्म का साक्षात्कार स्वरूप चिन्तन अनुभवगम्य है।

इस सामान्य ध्वनि रूप में शक्तियुक्त परमात्मा की आत्माभिव्यंक्ति को 'अनाहतनाद' कहा जाता है। क्योंकि यह एक ऐसी ध्वनि है जो किसी प्रकार के आघात या रगड़ से नहीं उत्पन्न होती और न ही यह विभिन्न में विभाजित ही हो सकती है। यह अनादि-अनन्त एवं पूर्ण है। यह उच्चारण के लिए नहीं वरन् मन की एकाग्रता के अभ्यास के द्वारा परिलक्षित किये जाने के लिए है। प्रत्येक उच्चारित ध्वनि स्वर-यंत्रियों के आघात से उत्पन्न होती है, वह विभाजित होता है किन्तु 'ॐ' सभी विशिष्ट खण्डित ध्वनियों के मूल में निहित सर्वव्यापक अखण्ड ध्वनि है।

# अजपाजप

**डॉ. राजशेखर यादव***

अजपाजप वह साधना है जिसमें साधक अपनी प्रत्येक साँस को शिव के रूप में मानकर उसी की साधना करता है और धीरे-धीरे साँस लेते समय 'सो' और छोड़ते समय 'अहम्' की ध्वनि का ध्यान करते हुए ध्याता एवं ध्येय में एकाकार की स्थिति का अनुभव करता है। इसमें किसी प्रकार की माला या मंत्र का प्रयोग नहीं होता है बल्कि श्वास को ही माला बनाकर जप करना अर्थात् केवल अपने मन को श्वासों पर केन्द्रित करना ही अजपाजप है। अजपाजप योग की वह अवस्था है जिसमें योग करने के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता है अपितु योग स्वत: हो जाता है और जब योग स्वत: हो जाता है तो श्वासों में शिव का वास होता है। इस स्थिति में सो-अहम् शिवो अहम् की स्थिति में पहुँच जाता है और श्वास ही शिव है यह अजपाजप सिद्ध कर देता है। योगी इसी अजपाजप के माध्यम से हृदय की बात को सुन लेता है, मन को नियंत्रित कर लेता है और समाधि तक पहुँचता है। जिस प्रकार से किसी पक्षी के पैर में कोई धागा बाँध दें और पक्षी जब उड़ान भरे तब वह चाहे हम उस धागे को खींचकर उसे अपने पास बुला लें इसी प्रकार हमारा मन ही चंचल है, चारों तरफ विचरण करता रहता है और अजपाजप उस धागे की तरह हमारे मन को केन्द्रित कर देता है।

'गोरक्षशतक' में गोरक्षनाथ जी ने स्वयं कहा कि 'अजपा' की तुलना में कोई भी अन्य विद्या, कोई भी अन्य जप और कोई भी अन्य ज्ञान नहीं रखा जा सकता। अजपा के सतत अभ्यास से आत्मा, ब्रह्म की एकता, जीव और शिव की एकता का सत्य आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुभूत होता है। सभी प्रकार की विषय कामना, घृणा, ईर्ष्या, भय, चिन्ता, अन्यमनस्कता दूर हो जाती है और हृदय में आत्मपूर्णता की चेतना के आनन्द का अनुभव होता है। इस अजपाजप की उच्चतर स्थिति में श्वास के ऊपर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं है। आत्मा और ब्रह्म की आनन्दमयी एकता की भावना में श्वास पर केन्द्रित ध्यान क्रमश: लय हो जाता है। अहं की चेतना भी समाप्त हो जाती है और केवल एक ज्योति से प्रकाशित अभेदात्मक आनन्दमयी चेतना रह जाती है। इस प्रकार अजपा के अभ्यास से समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

---

*दर्शनशास्त्र विभाग, दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

# योग का मनोविज्ञान

**डॉ. दीनानाथ***

मन को समझने और नियंत्रित करने के शास्त्र का नाम योग है। योग कृत्रिम व्यवहार से भावनाओं के नियंत्रण को नहीं कहता अपितु सत्य के साक्षात्कार से जीवन को जानने का अवसर प्रदान करता है। इस सुदृढ़ आधार पर भावनाओं का उदात्तीकरण कर आनन्द की अनुभूति करना जीवन का परम ध्येय है। सभी प्रकार की योग विधा व योगाभ्यास हमें चित्त-शुद्धि के माध्यम से आनन्द को अनुभव करने के लिए तत्पर करते हैं। मन ही इस अनुभूति का माध्यम है। मन ही भ्रम पैदा करता है जिस भ्रम से हम परम आनन्द से दूर रहते हैं। इसलिए मन को नियंत्रित कर ही परम आनन्द को पाया जा सकता है और मन के नियंत्रण का एकमात्र साधन योग है।

महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है। योग में स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों क्रियाएँ होती हैं। सूक्ष्म क्रियाएँ जैसे ध्यान, धारणा एवं समाधि में मन प्रधान होता है और इनका मुख्य उद्देश्य मन का निग्रह करके आत्मा के साथ योग करना होता है। योग जप-तप-तंत्र मात्र नहीं बल्कि यह एक मनोविज्ञान है जो आध्यात्मिक स्तर पर परामनोविज्ञान हो जाता है। पश्चिम का मनोविज्ञान जहाँ समस्याओं के समाधान के रूप में इस शास्त्र को देखता है वहीं भारतीय योग शास्त्र आनन्दपूर्ण जीवन जीने की विधा है। योग में समस्या समाधान की नकारात्मकता न होकर स्थायी सुख प्राप्ति की भावनात्मक दृष्टि होती है। योग हमें कृत्रिम व्यवहार से भावनाओं के नियंत्रण को नहीं कहता अपितु सत्य के साक्षात्कार से जीवन को जानने का अवसर प्रदान करता है। मनोविज्ञान के रूप में योग विषय का शैक्षिक अध्ययन नहीं हो रहा है अतः इस दिशा में शीघ्र व प्रामाणिक प्रयोग एवं शोध किये जाने की आवश्यकता है।

---

*कुण्डलिनी योग रिसर्च इन्स्टीट्यूट, लखनऊ

# योग और स्वास्थ्य

**डॉ. सुशील कुमार पाण्डेय 'साहित्येन्दु'***

वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश[१] में 'योग' शब्द के ३२ तथा रामचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित मानक हिन्दी कोश[२] में ४० अर्थ दिये गये हैं। संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश में लगभग ८९ शब्द उल्लिखित हैं। कहीं-कहीं पर एक शब्द के पाँच अर्थ दिये गये हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि योग शब्द कितना व्यापक है। योग का प्रधान अर्थ है दो अथवा अधिक पदार्थों का एक में मिलना अथवा मिलाना। इस मिलन या संयोग के अनेक आयाम होते हैं, प्रथम आत्मा का परमात्मा से संयोग, द्वितीय स्वस्थ तन और प्रफुल्लित मन का संयोग। इसके अलावा योग के बहुत आयाम हैं जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े हैं।

योग वह विधा-विद्या है जो व्यक्ति को परमात्मा से मिला देता है, तन-मन को स्वस्थ कर उसकी प्रसुप्त शक्तियों को जाग्रत कर देता है जिससे मानव के लिए कुछ अप्राप्य नहीं रह जाता। योग का साधक योगी कहलाता है। किसी को जब हम योगी कहते या मानते हैं तब मन में यह भावना उठती है कि इस व्यक्ति ने कड़ी आध्यात्मिक साधना की है और लोककल्याण ही इसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। योग-साधना से योगी अग्नि उत्पन्न कर अपने शरीर का अन्तिम संस्कार कर सकता है। इसे योग-अग्नि कहते हैं। रामचरितमानस में सती द्वारा योग-अग्नि के माध्यम से शरीर छोड़ने का उल्लेख आया है।[३] कालिदास ने रघुवंश में लिखा है कि रघुवंशी राजा योग के द्वारा (ब्रह्म का ध्यान करते हुए) शरीर छोड़ते थे।[४] श्रीमद्भगवद्गीता में कथित 'योग-क्षेम'[५] शब्द प्रचलित है जिसका तात्पर्य है अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना तथा प्राप्त की रक्षा करना। योग-क्षे, कुशल-मंगल के अर्थ में प्रयुक्त होता ही है। योग दर्शन भारतीय विद्या परम्परा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। महर्षि पतंजलि का योग-सूत्र[६], योग-दर्शन का एक प्रमुख ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य नामक चार

---

*पटेलनगर, कादीपुर, सुल्तानपुर (उ.प्र.)-२२८१४५

भागों में विभक्त है। इसमें योग अर्थात् ईश्वर प्राप्ति के उद्देश्य, लक्षण तथा साधन के प्रकार बतलाये गये हैं तथा योग के भिन्न-भिन्न अंगों का विवेचन विश्लेषण किया गया है। महर्षि पतंजलि का मत है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच प्रकार के क्लेश, मनुष्य को जीवन-मरण के चक्र में फँसाये रखते हैं और योग की साधना करके ही इन क्लेशों से बचकर ईश्वर में मिल सकता है अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए संसार से विरक्त होकर प्राणायामपूर्वक ईश्वर का ध्यान करना चाहिए और समाधि लगानी चाहिए। योग के आठ अंग बताये गये हैं-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनके यथाविधि क्रियान्वयन से तन और मन स्वस्थ रहता है जिससे अकल्पनीय उपलब्धियाँ हासिल की जा सकती हैं।

योग में मामूली ताकत नहीं है, यह अष्टसिद्धियों का प्रदाता है। इनके नाम हैं-(१) अणिमा- इसे सिद्ध कर लेने पर योगी अतिसूक्ष्म रूप धारण कर सकते हैं जिससे उन्हें लोग देख न सकें। (२) महिमा- इसके सिद्ध होने पर योगी इच्छानुसार अपना विस्तार कर लेता है। (३) गरिमा- इसके सिद्ध होने पर योगी इच्छानुसार अपने शरीर का भार जितना चाहे बढ़ा सकता है। (४) लघिमा- इसकी प्राप्ति होने पर योगी लघुतम रूप धारण कर सकता है। (५) प्राप्ति- इसकी उपलब्धि से योगी की अभीष्ट कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। (६) प्राकाम्य- इसके सिद्ध होते ही योगी की सब प्रकार की कामनाएँ बहुत सहज में और तुरन्त पूरी की जा सकती हैं। (७) ईशित्व- इससे साधक सब पर शासन करने के योग्य हो जाता है। (८) वशित्व- इसके सिद्ध हो जाने पर साधक सबको अपने वश में कर सकता है।[७] योगमाया ईश्वर की वह माया है जिसके नाम, रूप और गुण से युक्त यह सारी सृष्टि बनी है और जिसके भीतर ईश्वर या ब्रह्म का तत्त्व समाहित है। पुराणों के अनुसार यशोदा के गर्भ से उत्पन्न वह कन्या योगमाया थी जिसे वसुदेव ले जाकर देवकी के पास रख आये थे और जिसके बदले में श्रीकृष्ण को उठा लाये थे। कंस ने इसी को देवकी की सन्तान समझकर जमीन पर पटक कर मार डालना चाहा था और यही अष्टभुजा देवी का रूप धारण करके कंस को चेतावनी देती हुई ऊपर उठकर आकाश में विलीन हो गयी थी।[७] योगी उसे कहते हैं जो दुःख, सुख आदि को समान भाव से ग्रहण करे जो आत्मज्ञानी हो तथा योग की साधना करता है। योगी महादेव शिव को कहा जाता है। भारत में योगियों की लम्बी परम्परा है जिनमें नाथसम्प्रदाय की विशेष महत्ता है। इस सम्प्रदाय में गोरक्षनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, कारिणनाथ, गहिनीनाथ, चर्पटनाथ, रेवणनाथ, नागनाथ, भर्तृनाथ और गोपीचन्द्रनाथ- नवनाथ के रूप में प्रसिद्ध हैं। गोरक्षनाथ को गोरखनाथ कहा जाता है। गोरखपुर का नामकरण भी इन्हीं के नाम

पर हुआ है। गोरखनाथ मन्दिर गोरखपन्थ का साम्प्रदायिक पीठ होने के कारण यह मठ और इसके महन्त भारत में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यहाँ के महन्त सिद्ध पुरुष होते आये हैं।[८] इस समय यहाँ के महन्त योगिराज आदित्यनाथ हैं। भारत की योग विद्या को विश्व ने पहचाना और संयुक्त राष्ट्र संघ ने २१ जून को विश्व योग दिवस घोषित कर दिया।

मानव के दु:ख का एक कारण उसके चित्त का चंचल होना है। जब तक चित्त स्थिर नहीं होगा किसी काम में मन लगेगा ही नहीं और बेमन से किया गया काम असफल ही होता है। यही कारण है कि महोपनिषद् मन के प्रशमन (शान्त रखना) के उपाय को योग कहता है।[९] किसी का जीवन कभी सदैव एक रस नहीं रहता। उसमें उतार-चढ़ाव आते हैं। यदि सुख की अधिकता में कोई खूब शराब पी ले और दु:ख की गहन विभीषिका में जहर पी ले तो क्या परिणाम होगा? सभी जानते हैं। सुख और दु:ख दोनों में जो समत्व का भाव रखता है वही संतुष्ट होता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 'समत्व' को योग मानती है।[१०] कर्म ही जीवन है। गतिशीलता ही जीवन है और जो कर्म करता है उसे ही फल मिलता है। कोई प्रशिक्षित किसी कार्य को जितनी कुशलता से शीघ्र कर लेता है उस विषय का अप्रशिक्षित उसी कार्य को पूरा करने में बहुत समय लगाता है और ठीक से कर भी नहीं पाता। अपने कार्य में कुशलता (निपुणता-प्रवीणता) को गीता योग कहती है। महर्षि पतंजलि चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं।[११] चित्त की अनेक वृत्तियाँ-दिशाएँ होती हैं उसे सब ओर अनर्थक अन्तहीन दौड़ लगाने से रोककर विशिष्ट सकारात्मक दिशा की ओर ले जाने से कार्य की सफलता में शीघ्रता होती है। मानव जीवन के कतिपय अनिवार्य सिद्धान्त हैं जो इन्हें मानता है और चरितार्थ करता है वस्तुत: वही 'मानव' कहे जाने का अधिकारी होता है जैसे सहयोग, लोककल्याण आदि। विनोबा भावे ने कहा है कि जीवन के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने की जो कला या युक्ति है, उसी को 'योग' कहते हैं।[१२]

यह सत्य है कि भारत को प्राचीनकाल में विश्व गुरु पद की प्रतिष्ठा के पीछे 'योग-विद्या' का विशेष महत्त्व था। आज का विश्व जिसमें अनीश्वरवादी भी हैं योग को उत्तम सकारात्मक चिकित्सा पद्धति के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी कारण 'विश्व योग दिवस' अब मनाया जा रहा है। स्वस्थ तन और श्रेष्ठ चिन्तन योग से व्यक्ति को मिलते हैं। जो किसी प्रकार की उपलब्धि के लिए प्राथमिक सोपान हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्[१३] का मानना है कि योग से शरीर हल्का हो जाता है। आज चिकित्सक देह के वजन को नियंत्रित करने की सलाह देते हैं। अधिक वजन हो जाने से आलस्य और अनेक रोग देह में घर बना लेते हैं। योग आरोग्य का आधार-स्तम्भ है। आरोग्य-नीरोगता ही मानव देह का प्रथम सकारात्मक लक्षण है जिससे मानव जीवन की यात्रा सुगम और सफल होती है। योग से विषयों से मन

हटता है। आज का मानव असीमित लालच की मृगतृष्णा में फँसकर क्या से क्या अनर्थ नहीं कर बैठता है? वह कबीर के इस अर्थशास्त्रीय दोहे को स्मरण नहीं रखता कि-

**दाता इतना दीजिए जामे कुटुम समाय।**
**मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय॥**[१४]

योग या कबीर के अर्थशास्त्र को तभी अपनाया जा सकता है जब विषयासक्ति की अत्यल्पता रहे। महात्मा गाँधी ने कहा था कि प्रकृति प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है पर उसके लोभ की नहीं। योग से शारीरिक वर्ण की उज्ज्वलता बढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में चर्मरोग से मुक्ति मिलती है। अनेक लोगों के स्वर कर्कश एवं कर्णकटु होते हैं। योग के माध्यम से कर्कश स्वर को कोमल बनाया जा सकता है। योग से शरीर की दुर्गन्ध दूर होती है ओर देह से सुगन्ध आने लगती है। योग से खाये पदार्थ की अधिकांश मात्रा उपयोगी बनकर अवयवों में समाहित हो जाती है, मल-मूत्र की अल्पता हो जाती है। जब योग नहीं होगा तो पाचन क्रिया भी सही नहीं रहेगी फलतः प्रकोष्ठबद्धता होगी, मल-मूत्र की अधिकता बनी रहेगी। ग्रहण किया गया भोजन ठीक से शरीर को पोषण तत्त्व न दे पायेगा। ये सब योग की प्रथम सिद्धि के लक्षण हैं अर्थात् योग पहले शरीर को दुरुस्त करता है बाद में अन्य तत्त्वों को भी। योगचूड़ामणि उपनिषद्[१५] ने योग की उपयोगिता को बड़े ही रोचक ढंग से समझाया है। उसका कथन है कि आसन से रोगों का नाश होता है और प्राणायाम से पापों का। योगी के मन के विकार प्रत्याहार से दूर हो जाते हैं। धारणा से मन में धैर्य आता है तथा अद्‌भुत चैतन्य की प्राप्ति होती है। समाधि में शुभाशुभ कार्यों को त्याग कर साधक मोक्ष को प्राप्त करता है।

आजकल एलोपैथ के चिकित्सक भी 'नेचुरोपैथ'-प्राकृतिक चिकित्सा-दूसरे शब्दों में योगविद्या को भी अपनाने की सलाह दे रहे हैं। उनका मानना है कि यदि प्राकृतिक चिकित्सा-योग विद्या को सहयोगी उपचार के रूप में अपनाया जाय तो रोग शीघ्र दूर हो जायेगा। योग-चिकित्सा से कोई खराब 'साइड इफेक्ट' भी नहीं होता। अब तो अनेक योग संस्थान खुल रहे हैं। रोगियों की रुचि उधर बढ़ रही है। आसन से शरीर के जोड़ चुस्त-दुरुस्त रहते हैं। रीढ़ से सम्बन्धित रोगियों को भुजंगासन, धनुरासन, मर्कटासन तथा शलभासन आदि की सलाह दी जाती है। प्राणायाम से मन शान्त तथा स्थिर रहता है जो किसी भी कार्यसिद्धि के लिए आवश्यक है। धारणा से मन को अनेक विषयों से हटाकर किसी एक निर्दिष्ट लक्ष्य पर स्थिर किया जाता है। धारणा से मन की दृढ़ता और किसी विषय को धारण करने की शक्ति बढ़ती है। समाधि, ईश्वर में ध्यानमग्न हो जाना है। भौतिक जगत् में अपने कार्य के प्रति मनसा-वाचा-कर्मणा एकाग्र हो जाना है। समाधि योग

साधना का चरम फल है और भौतिक जगत् में अपने लक्ष्य की प्राप्ति। योग प्रबन्धन कला है। अब अनेक कम्पनियों में कर्मचारियों को इसलिए योग की शिक्षा दी जा रही है ताकि वे अपना कार्यकुशलतापूर्वक कर सकें। योग अमूल्य चिकित्सा पद्धति है जिसकी आवश्यकता सबको है। यह स्वस्थ को और भी अधिक स्वस्थ करता है और अस्वस्थ को तो स्वस्थ करता ही है।

योग से जीवन शैली में सन्तुलन आता है। गीता का कथन है कि अनुशासनहीन जीवन पद्धति वाले व्यक्ति के लिए योग कुछ नहीं कर सकता। एक कहावत है जिसके स्वयं बुद्धि नहीं है उसका भला शास्त्र क्या कर पायेगा? कुछ तो बुद्धि हो, सीखने की ललक हो तो शास्त्र उसके लिए उपकारी बन सकता है। ठीक यही बात 'योग' के विषय में भी है। योग उसी का दुःख दूर करता है जो भूख से कम भोजन करता है। शुद्ध वायु में विहार करता है। कार्यों को यथायोग्य यथासमय करता है। कहावत है कि बिच्छू का मंत्र ही न जाने और साँप के बिल में हाथ डालें। व्यक्ति में जितनी क्षमता-योग्यता तथा प्रतिभा हो उतना और वैसा ही कार्य करे तभी सफलता मिल सकती है। यथासमय सोने और जागने वाले का ही दुःख योग दूर करता है। सोने की एक निश्चित अवधि और जागने का भी एक नियत समय होना चाहिए। चिकित्सक रोगी को सलाह देते हैं कि भरपूर नींद लीजिए और सुबह-शाम टहलिये। जिसने ब्रह्ममुहूर्त का दर्शन ही नहीं किया और 'नसीमे सहर' (प्रातःकालीन वायु) का सेवन ही नहीं किया उसे स्वस्थ कैसे कहा जायेगा। कहा गया है कि 'शाम-सुबह की हवा-लाख रुपये की दवा' यह कहावत जब पहली बार कही गयी होगी तब एक लाख रुपये का क्या मूल्य रहा होगा आज की तुलना में कौन कह सकता है? स्कन्दपुराण[२६] की मान्यता है कि योग से सामने आया हुआ व्यक्ति योगी के प्रति अनुरक्त हो जाता है। वस्तुतः योगी के मुखमण्डल पर विलक्षण चमक होती है, सम्मोहन आकर्षित करने लगता है। लोग योगी की परोक्ष में प्रशंसा करने लगते हैं। योग-साधना से व्यक्तित्व में जो उदारता और आकर्षण उत्पन्न होता है वह स्वाभाविक रूप से सान्निध्य में आने वाले व्यक्ति को प्रभावित करता है। सामान्यतः लोग कर्कश और हृदयहीन व्यक्ति से मिलते समय असहज महसूस करते हैं पर योगी मृदुभाषी और सत्यवक्ता होता है। वार्तालाप करते समय उसके चेहरे पर प्रसन्नता, सहानुभूति तथा सदाशयता झलकती रहती है। अतएव 'योगी' से किसी काम की सिद्धि न भी हो तो लोग उसे बुरा नहीं मानते बल्कि कालिदास के इस कथन को स्मरण करने लगते हैं कि भले आदमी (योगी) से माँग कर निराश होना ठीक है पर अधम से यदि इच्छा की पूर्ति भी हो जाय तो ठीक नहीं।[२७] कालिदास का उक्त कथन चाहे कोई पढ़े हो या नही, उसके भावों का आत्मीकरण तो कर ही लेता है।

अब योग का कुछ संयोग ऐसा बना कि विश्व उसके निकट आने को आतुर है। भारत प्राचीन काल से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोषक रहा है। एक बार फिर भारत को, विश्व को अपने पूर्वजों की विद्या 'योग' के माध्यम से स्वस्थ रखने का मौका मिला है, उसे गँवायें नहीं प्रत्युत् सब नागरिक अपना-अपना यथायोग्य सहयोग प्रदान करें और याद करें अपने पूर्वजों के उस कथन को "सभी सुखी हों, सभी स्वस्थ हों, सबका कल्याण हो। कोई भी दुखी न रहे।"[१८]

**सन्दर्भः**


१. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश - वामन शिवराम आप्टे
२. मानक हिन्दी कोश - रामचन्द्र वर्मा - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
३. 'अस कहि जोग अगिन तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा।।'- (रामचरितमानस-बालकाण्ड)
४. 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' - (रघुवंश-कालिदास)
५. 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' - (श्रीमद्भगवद्गीता-वेदव्यास)
६. गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित
७. श्रीमद्भागवतमहापुराण १०-४-४७
८. हिन्दू धर्म कोश - डॉ. राजबली पाण्डेय
९. महोपनिषद् (५-४२) 'मनः प्रशमनोपायो योग उच्यते'
१०. 'समत्वं योगमुच्यते' (गीता-२.४८)
११. 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' (पातंजलि योगदर्शन १-२)
१२. गीता प्रवचन - विनोबा भावे, पृ. २७
१३. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वर सौष्ठवं च।
गंधः शुभो मूत्रपुरीष मल्पं
योग प्रवृत्तिः प्रथमां वदन्ति।।
-श्वेताश्वतर उपनिषद् २-१३
१४. कबीर दोहावली
१५. आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुंचति।
धारिणीभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्।।
-योगचूड़ामणि उपनिषद् (१०९-११०)
१६. अनुरागं जनो याति परोक्षे गुणकीर्तनम्।
न बिभ्यति च सत्वानि सिद्धेर्लक्षणमुच्यते।।
-स्कन्दपुराण कुमारिका, खण्ड ५५-१३६
१७. याञ्चामोघा वरमधि गुणे नाध मे लब्धकामा
-मेघदूत (कालिदास)
१८. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चितदुःखभागभवेत्।। (परम्परागत)

# YOGA-EDUCATION THERAPY - CHEMISTRY

**Dr. Yogendra Pal Kohli***

Once upon a time, in the middle-east, there was a saint who wanted to see Allah, the Supreme God, the Ultimate Truth. He went around shouting "Allah, where are you?" He heard a faint voice, "I am here." The saint was unable to find out where the voice was coming from. He again shouted, "Allah, Allah, where are you?" The faint voice responded, "I am within you, in your heart." The saint asked, "You are within me but your voice is very feeble." The voice replied, "Because, my son, you are covered with muck." (Yoga Sudha, Oct.'96). The process of cleaning this muck from our hearts is the objective of yoga-education.

In the chantings of Donyipolo Mantras, "KEYUM DONIE BOTE KE, KONNO KE MIBO KAMANG NAEE, UYU TAT MANAME, DONI NEDUNGE TENGA NEM MIKUK, TAMTEM GETUNGEM, MIRAM DIBUNGE..............." (Talom Rukbo, and Tagom Tabi) i.e. "In the dawn of civilization, our first forefather ABOTANI with the help of DOYING-BOTE and KINE-NAME defeated the evil spirits. Today again, they have acquired power and as a result, man is suffering from diseases. (bacterial/viral)

As in the past, this time also, we pray Doying Bote and KINE-NANE to bestow the strength (resistance) to the man in order to win against diseases." Today's advances in Medical-science and Technology reveal that yoga science provides the very strength, the very resistance to fight the diseases (evil spirits of the past). The movement, we realize, we feel, the identity of soul with infinity i.e. the part with the whole (the knowledge with the science) our work-efficiency is enhanced and our journey towards destination is accelerated.

We, the teachers of ten, come across a number of questions from our

*Associate Professor (Retd.), Chemistry; Buddha P.G. College, Kushinagar

student friends, "I do not have a good memory", "I cannot concentrate my mind to the studies for more than one hour", "very hard to grasp the subject matter", "more study hours have led to headache", "During reading, water starts coming out from the eyes." And so on. I feel yoga-education may provide a better path for them.

With the advancement of science and technology, we live in the mechanized world, artificial life, far away from simplicity as a result, we are always under stress. When the muscles are tense, we suffer from diseases like hypertension, etc. The youths, in the search of true happiness, become the victims of drug addiction. Yoga therapy may be the effective medicine for such evils.

**Health and Happiness**

Health and happiness are man natural assets. Disease is an artificial condition induced by an unnatural behavior of the body and the mind and can be totally removed by correction at the right levels. These corrections may be brought about by fasting exercise, breathing, dietary-control and meditation. The natural state of mind is that of calmness, creativity, positive thinking and contentment. Man destroys this naturally soft state of mind by his greed, ambition, jealousness, fear, hurry and worry and builds tension and stresses instead. Tension interferes with the flow of vital energies and glandular secretions in bio-system which manifest in the form of physical illness called psychosomatic diseases.

The cells of our body are continuously in a process of metabolism that is building up of new cells and the dying of the old ones. The blood is constantly being toxicated by the dead tissues from the decaying cells. This toxin in the blood is eliminated by the highly complicated excretory mechanisms. When the body is healthy and mind is relaxed, the elimination of toxins goes on smoothly. But when the body becomes weak and the mind tense due to our irregular life style, the natural elimination of toxins is hampered and the body may also succumb to infection.

Thus the disease both somatic and psycho-somatic can be ascribed to an un-relaxed state of mind. Conversely, a soft and relaxed mind is the key to health and happiness. In a still higher sense, health and happiness are not different from each other. They are two expressions to denote the same condition. The Sanskrit term for health is 'Svasthya', which means the state of being established in the self. This state is also the state of bliss, knowledge and existence. Thus Svasthya and Anand or health and happiness indicate the same state beyond mind and intellect which is the very nature

of man according to Upanishads.

**What is Yoga?**

Recognizing mind as the ultimate maker of man's destiny, Patanjali, the father of the science of yoga, began his master creation with the singular, all inclusive maxim namely-"Yoga is the control of the modifications of mind."

Such a life-style leads to physical fitness, social well-beingness, mental-alertness and spiritualness. It is the very foundation of a successful life.

Yoga is a method of a system for the complete personality development of man viz. physical, mental, moral and intellectual. The knowledge of yoga has spread far and wide all over the world, because the yoga practices are universal and useful to all. In the recent past many yoga centers have come up in America, Europe and elsewhere to impart training in the yoga practices.

According to Prof. Maxmuller, yoga is about 6000 year old. The word yoga means 'to join' or 'to unite'. The other meaning of the word yoga is 'to control' or 'to make steady'. Yoga is not a religion or a creed as many misunderstand it. As the scientific knowledge is for all, the science of yoga-practices is also for all, irrespective of caste, creed, sex, religion, language, province and nation.

**Chemistry**

Brain chemistry has thrown near insights into the origin of medical illness. It has been shown that certain biochemical substances called neurotransmitters are important in retaining or determining mental health, imbalance in these neurotransmitters are probably responsible for psychiatric disorders.

According to Gorrel, the proper elimination of the toxins contributes to good health as well as longevity. When we come across odd moments (e.g. we are angry or we are confused or we are in a state as what to do or not to do) the inner organs are likely to suffer due to the influx to toxins (harmful bio-chemicals produced as a result of improper breathing).

Stane R A and De Leo 3 (1976) used the experiments of breath awareness by counting the spontaneous breaths and demonstrated statistically significant drops in blood pressure. They could demonstrate reduction of sympathetic tone of chemical analysis of a substance called DBH (Dopamine Beta Hydroxvlase) in the blood. Medication can reduce the sympathetic tone as evidenced by reduction of pulse rate, S.P. and GSR (Galvinise skin resistance- a measure of the amount of sweating),

VMA (Venelyl mendelic Acid) and DBM- the chemicals involved in sympathetic activity also have been shown to reduce after pranayam practices.

We can summarize the benefits of yoga as follows:

(a) It teaches on how to develop one's Latent power both mental and physical.

(b) It develops strong will power and through this, control of emotions, resistance to the temptations of passion, power and greed.

(c) It expands the intellect, develops the capacity of discrimination and self control.

(d) It promotes long life, happiness and unity.

The yoga science is helpful to man even in space. Yogic exercises helped Sqn. Ldr. Rakesh Sharma to overcome space sickness and other problems of zero 'g' environment of space. He did not take any drug during the space flight and was dependent upon yoga to get relief from backache, etc.

We are now in an era of science. Experimentation is the need of the hour. The recent researches in the science of yoga have provided that it is the best curative and preventive medicine for the ills of man, resulting from the so called modern living. I am of the humble opinion that inclusion of Yoga-education and its relevance through traditional dances in the syllabus from primary to college level will enable our children to acquire physical fitness, mental harmony and social well-beingness and this total health will awake the sleeping goodness in the heart of today's man. With celebration of International Yoga-Day 21st June every year, its acceptance by all most all the nations, we the inhabitants of the Earth planet look towards the future generation free from diseases.

**Note:**

Donyipolo : The religion of some tribes of Arunachal
Yogsudha : The monthly magazine from Vivekanand Yoga-Institute, Bangluru
Kine-Naane : The Goddess of paddy-crops in ADI society of Arunachal
Doying-Bote : The God of Animal-Husbandry + Veterinary Science in ADI society

The author is President of State-unit of Vijnana-Bharati and Organizing-Secretary of National Medicos Organization. He served Arunachal Pradesh as Associate Prof. in Chemistry + Air-Wing-NCC Officer + Scientist + Project Officer from 1975 to 2001 and published two books/107 papers + articles.

अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के अवसर पर

# साप्ताहिक योग शिविर एवं शिक्षक कार्यशाला

## १५ से २१ जून २०१७

श्री गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

### १५-जून

| | | | |
|---|---|---|---|
| उद्घाटन समारोह | अध्यक्षता : **परमपूज्य महन्त योगी आदित्यनाथ जी महाराज** | | |
| पूर्वाह्न १०:३०-१२:३० | मुख्य अतिथि | : | **महन्त शिवनाथ जी** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **श्री माधवेन्द्र राज** |
| सैद्धान्तिक सत्र | विषय | : | **योग एवं स्वास्थ्य** |
| अपराह्न २:००-३:०० | अध्यक्षता | : | **महन्त शिवनाथ जी** |
| | मुख्य वक्ता | : | **प्रो. द्वारिकानाथ** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. अरविन्द चतुर्वेदी** |
| शैक्षिक सत्र | विषय | : | **भारतीय ज्ञान परम्परा** |
| अपराह्न ३:३०-५:०० | अध्यक्षता | : | **प्रो. उदय प्रताप सिंह** |
| | मुख्य वक्ता | : | **डॉ. संतोष कुमार शुक्ल** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. प्रदीप कुमार राव** |

योगाभ्यास एवं ध्यान की क्रिया

सायं ६:००-८:००

समूहचर्चा-दिनचर्या एवं दिन में सम्पन्न व्याख्यान पर

रात्रि ९:००-१०:००

### 16-जून

यौगिक षटकर्म

**प्रात: ५:००-६:००**

**योग/प्राणायाम**

**प्रात: ६:००-८:००**

| | | | |
|---|---|---|---|
| योग पर व्याख्यान: | विषय | : | **योग का मनोविज्ञान** |
| पूर्वाह्न १०.००-११:०० | अध्यक्षता | : | **महन्त शिवनाथ जी** |
| | मुख्य वक्ता | : | **प्रो. डी.एन. यादव** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. ब्रिजेश मणि मिश्रा** |
| शिक्षा सत्र : | विषय | : | **शिक्षा के आदर्श एवं उद्देश्य** |

| | | | |
|---|---|---|---|
| अपराह्न ३:००-५:०० | अध्यक्षता | : | **प्रो. उदय प्रताप सिंह** |
| | मुख्य वक्ता | : | **प्रो. एस.के. वर्मा** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. अविनाश प्रताप सिंह** |

योगाभ्यास एवं ध्यान की क्रिया

सायं ६:००-८:००

सामूहिक चर्चा

रात्रि ९:००-१०:००

## 17-जून

यौगिक षटकर्म

प्रात: ५:००-६:००

योग/प्राणायाम

प्रात: ६:००-८:००

| | | | |
|---|---|---|---|
| योग पर व्याख्यान: | विषय | : | **प्राणायाम** |
| पूर्वाह्न १०.००-११:०० | अध्यक्षता | : | **महन्त शिवनाथ जी** |
| | मुख्य वक्ता | : | **श्री हरि नारायणधर दूबे** |
| | | : | **डॉ. वाई.पी. कोहली** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. अभिषेक पाण्डेय** |
| शिक्षा सत्र : | विषय | : | **आदर्श शिक्षक** |
| अपराह्न ३:००-५:०० | अध्यक्षता | : | **प्रो.उदय प्रताप सिंह** |
| | मुख्य वक्ता | : | **प्रो.एन.पी. भोक्ता** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **श्री मनीष दूबे** |

योगाभ्यास एवं ध्यान की क्रिया

सांय ६:००-८:००

सामूहिक चर्चा

रात्रि ९:००-१०:००

## 18-जून

यौगिक षटकर्म

प्रात: ५:००-६:००

योग/प्राणायाम

प्रात: ६:००-८:००

| | | | |
|---|---|---|---|
| योग पर व्याख्यान: | विषय | : | **मुद्रा एवं बन्ध** |
| पूर्वाह्न १०.००-११:०० | अध्यक्षता | : | **महन्त शिवनाथ जी** |

| | | | |
|---|---|---|---|
| | मुख्य वक्ता | : | **डॉ. दीनानाथ राय जी** |
| | | : | **डॉ. जयन्त** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. रोहित कुमार मिश्र** |
| शिक्षा सत्र : | विषय | : | **आदर्श शिक्षण संस्था एवं उसका स्वरूप** |
| अपराह्न ३:००-५:०० | अध्यक्षता | : | **प्रो. उदय प्रताप सिंह** |
| | मुख्य वक्ता | : | **सदानन्द प्रसाद गुप्त** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. राजशरण शाही** |

योगाभ्यास एवं ध्यान की क्रिया

सायं ६:००-८:००

सामूहिक चर्चा

रात्रि ९:००-१०:००

## 19-जून

यौगिक षटकर्म

प्रात: ५:००-६:००

योग/प्राणायाम

प्रात: ६:००-८:००

| | | | |
|---|---|---|---|
| योग पर व्याख्यान: | विषय | : | **नाद योग साधना** |
| पूर्वाह्न १०.००-१२:०० | अध्यक्षता | : | **महन्त शिवनाथ जी** |
| | मुख्य वक्ता | : | **डॉ. दीनानाथ राय** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. प्रांगेश मिश्र** |
| शिक्षा सत्र : | विषय | : | **हम और हमारी संस्था** |
| अपराह्न ३:००-५:०० | अध्यक्षता | : | **प्रो. उदय प्रताप सिंह** |
| | मुख्य वक्ता | : | **डॉ. राजशरण शाही** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. प्रसून कुमार मल्ल** |

योगाभ्यास एवं ध्यान की क्रिया

सायं ६:००-८:००

सामूहिक चर्चा

रात्रि ९:००-१०:००

## 20-जून

यौगिक षटकर्म

प्रात: ५:००-६:००

योग/प्राणायाम

प्रात: ६:००-८:००

| | | | |
|---|---|---|---|
| योग पर व्याख्यान: | विषय | : | **अजपाजप** |
| पूर्वाह्न १०.००-११:०० | अध्यक्षता | : | **महन्त शिवनाथ जी** |
| | मुख्य वक्ता | : | **डॉ. राजशेखर यादव** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **डॉ. गिरीश चन्द्र पाठक** |
| शिक्षा सत्र : | विषय | : | **कार्य और कार्यपद्धति** |
| अपराह्न ३:००-५:०० | अध्यक्षता | : | **प्रो.उदय प्रताप सिंह** |
| | मुख्य वक्ता | : | **डॉ. प्रदीप कुमार राव** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : | **श्री पाटेश्वरी सिंह** |

योगाभ्यास एवं ध्यान क्रिया

सायं ६:००-८:००

सामूहिक चर्चा

रात्रि ९:००-१०:००

## 21-जून

जागरण

प्रात: ०४:३०

अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस पर योगाभ्यास के साथ योग शिविर का समारोप

प्रात: ५:३०-८:००

| | | |
|---|---|---|
| समारोप | अध्यक्षता | : **प्रो. उदय प्रताप सिंह** |
| प्रात: ९:००-१०:३० | मुख्य अतिथि | : **न्यायमूर्ति श्री सूर्यप्रकाश केसरवानी** |
| | मुख्य वक्ता | : **प्रो. रामअचल सिंह** |
| | विशिष्ट अतिथि | : **डा. मानेन्द्र प्रताप सिंह** |
| | | : **डा. योगेन्द्र प्रताप सिंह** |
| | संचालन/प्रस्ताविकी | : **श्री सुबोध कुमार मिश्र** |

श्री गोरक्षपीठ, गोरखनाथ मन्दिर में अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के अन्तर्गत आयोजित साप्ताहिक योग शिविर एवं शैक्षिक कार्यशाला का समापन समारोह में बोलते मुख्य अतिथि माननीय न्यायमूर्ति श्री सूर्य प्रकाश केसरवानी (नीचे) कार्यशाला में योग : समग्र स्वास्थ्य का विज्ञान विषय पर बोलते प्रो. द्वारका नाथ (ऊपर) तथा आदर्श शिक्षण संस्थान विषय पर व्याख्यान देते प्रो. सदानन्द प्रसाद गुप्त (मध्य में)।

# पुण्य स्मृति

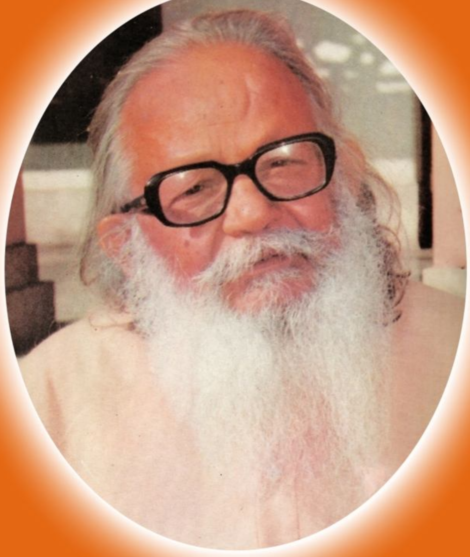

## ब्रह्मलीन पूज्य महंत अवेद्यनाथ जी महाराज

**(18.5.1919 - 12.9.2014)**

कल्याण सभी जन का मन से
है किया कि सभी अभय होवें,
होकर अवेद्य भी वेद्य धरा पर
संत प्रवर की जय होवे।

ISBN 978-81-8294-572-2

9 788182 945722 >

**Published by Maharana Pratap Post Graduate College, Jungle Dhusan, Gorakhpur (U.P.)**
**E-mail : mpmpg5@gmail.com**
**Printed at Moti Paper Convertors, Betia Raj House, Betiahata, Gorakhpur Ph. : 0551-2334184**